वर्ष ३३
कल्याण
अङ्क ७
भगवान

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०१६, जुलाई १९५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा [कविता] (गीता ९ । २३-२४ के आधारपर)	१०२५
२–कल्याण ('शिव')	१०२६
३–वैराग्य (स्वामीजी अनन्तश्री चिदानन्दजी सरस्वती महाराज)	१०२७
४–यदि तुम्हें पाऊँ [कविता] (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०)	१०३१
५–चतुःश्लोकी भागवत (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१०३२
६–पथिक रे ! [कविता] (श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)	१०३७
७–भोग और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	१०३८
८–शूल-फूल [कविता]	१०४१
९–कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय (श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम)	१०४२
१०–आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर शान्तिका समुद्र लहरा रहा है	१०४४
११–मधुर	१०४५
१२–श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी)	१०४६
१३–मेरे सब कुछ तुम ही हो [कविता]	१०५०
१४–मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	१०५१
१५–दो भूलो, दो याद रखो [कविता]	१०५७
१६–संत सेठ श्रीरामरतनजी डागा (श्रीमुरलीधरजी व्यास 'विशारद')	१०५८
१७–सत्यार्थी (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	१०६२
१८–मनुष्य और यन्त्र (श्रीराधाकृष्णजी)	१०६३
१९–पूर्ण प्रेम, पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तिमान् भगवान् मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ	१०६४
२०–महासती सावित्री (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)	१०६५
२१–कर्तव्य-विज्ञान (साधुवेषमें एक पथिक)	१०७१
२२–मैं अकेला नहीं हूँ, भगवान् सदा मेरे साथ हैं	१०७४
२३–पढ़ो, समझो और करो	१०७५
२४–भगवान्‌के चरणोंके प्रतापसे मेरा मन प्रेम और आनन्दका दिव्य स्रोत बन गया है	१०८५
२५–तम्बाकू—मानवजातिकी शत्रु है या मित्र ?	१०८६

चित्र-सूची

तिरंगा

१–किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा १०२५

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

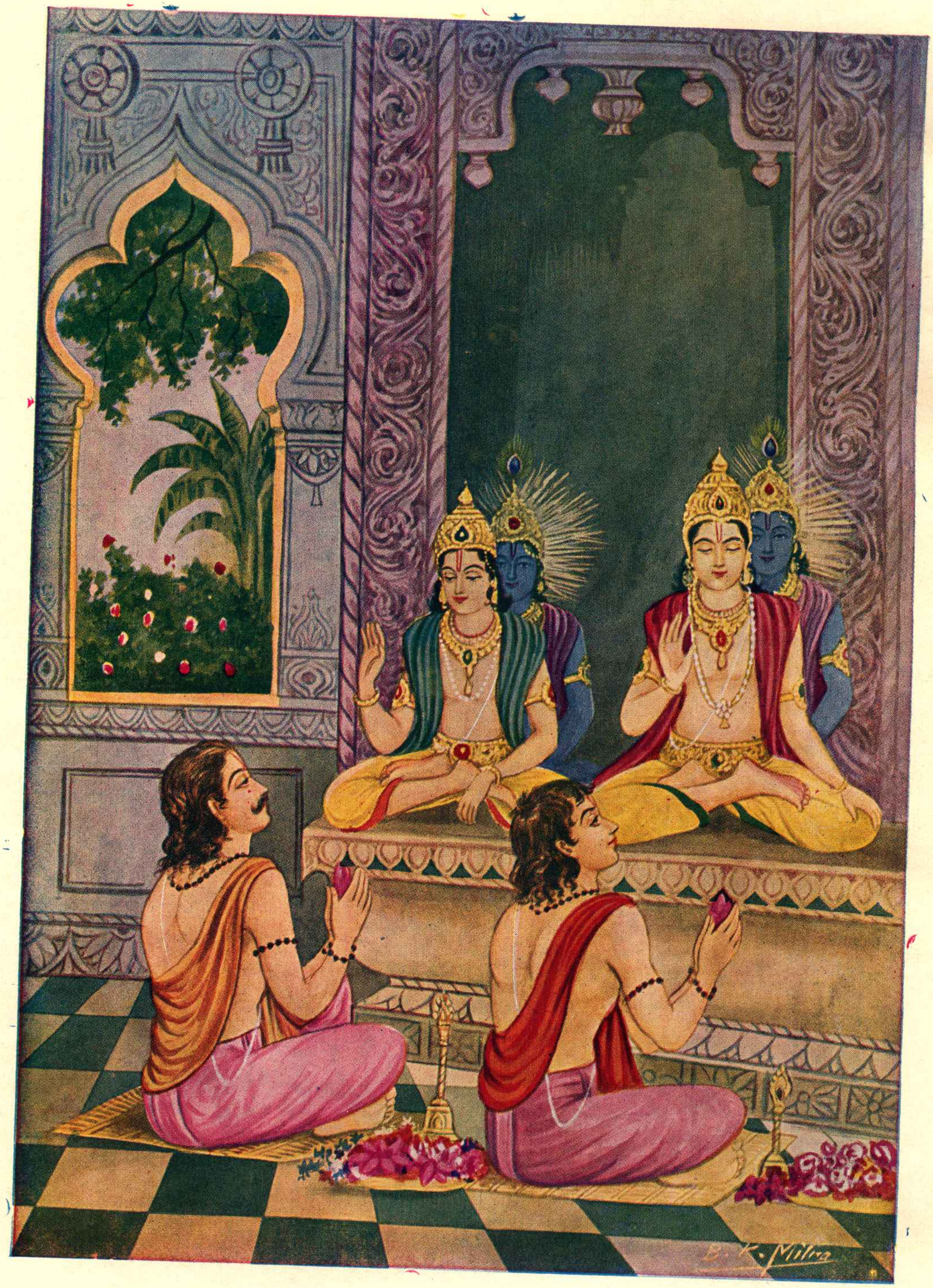

किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

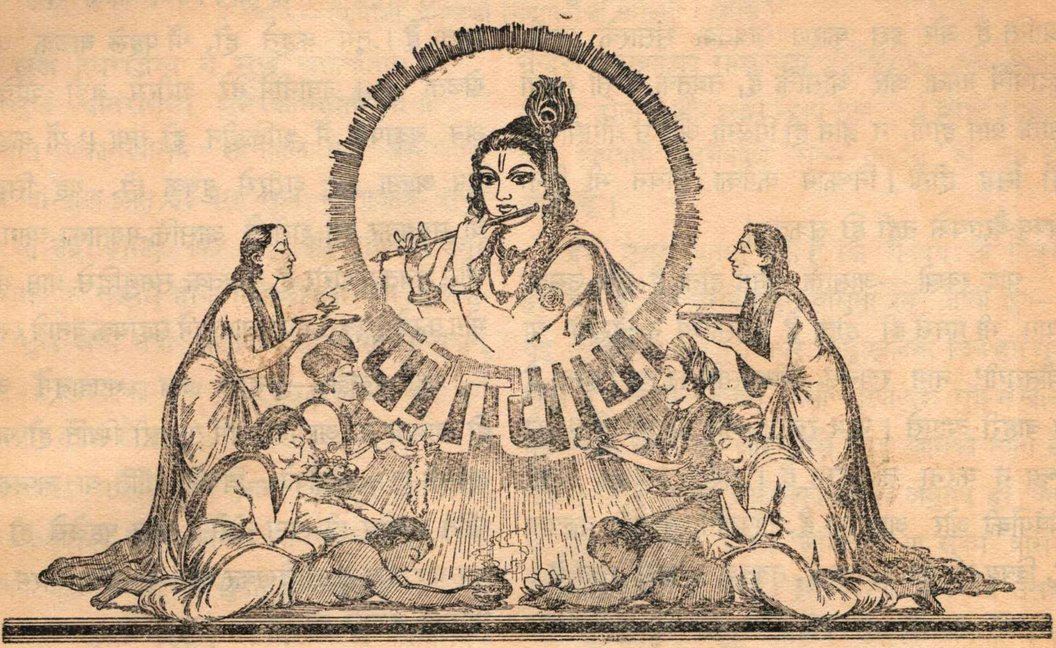

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१६, जुलाई १९५९ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ३९२

किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा

कुन्तिपुत्र ! जो अन्य देवताओंको भजते श्रद्धायुक्त ।
वे भी विधिसे विरहित पूजा मेरी ही करते हैं भक्त ॥
मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता, मैं ही एकमात्र स्वामी ।
मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, होते वही अधोगामी ॥

(गीता ९ । २३-२४ के आधारपर)

याद रक्खो—जबतक संसारके भोगपदार्थोंमें सुखकी भ्रान्ति है और इस कारण जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंमें ममता और आसक्ति है, तबतक न तो सच्ची भक्ति प्राप्त होगी, न ज्ञान ही मिलेगा और न योगसाधना ही सिद्ध होगी। निष्काम कर्मका साधन भी बिना विषय-वैराग्यके नहीं हो सकता।

याद रक्खो—आसक्ति मनमें होती है और उसका त्याग भी मनसे ही होता है। इसलिये न 'वैरागी' या 'वीतरागी' नाम रखनेसे विषयासक्तिका त्याग होता है न बाहरी त्यागसे। नाम रखना और वस्तुतः वैराग्यकी इच्छा न करना तो दम्भ है। परंतु जबतक मनमें विषयोंकी ओर आकर्षण है, विषयोंमें सुखकी कल्पना है, विषय-सुखकी वासना है, तबतक 'वैराग्य' नहीं है।

याद रक्खो—जबतक विषय-सुखकी भ्रान्ति तथा उसकी वासना रहेगी, तबतक बाहरसे त्याग करनेपर भी विषयके सामने आनेपर अथवा विषयकी स्मृति होनेपर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जायगी, जो बाह्य-विषय-त्यागी पुरुषको भी विषयसेवनमें लगा देगी और उसका पतन हो जायगा।

याद रक्खो—विषयमें सुख है ही नहीं, दुःख-ही-दुःख है। संसारमें खान-पान और कपड़ा-लत्ता तथा घर-मकान तो जीवन-निर्वाहके लिये हैं और यह मानव-जीवन है भोगोंमें वैराग्य प्राप्त करके भगवत्प्राप्ति या स्वरूप-साक्षात्कारकी साधनाके लिये। जीवननिर्वाहके लिये इन वस्तुओंका ग्रहण है, इनके लिये जीवन कदापि नहीं है। अतएव जो स्वाद-शौकीनीके लिये भोजन-वस्त्रादिका सेवन करता है, वह विषयासक्त मनुष्य सर्वथा विरागहीन है और उसे संसारमें बँधे ही रहना पड़ेगा।

याद रक्खो—जैसे ये विषय शरीरनिर्वाहके लिये हैं, वैसे ही यह शरीर भी जीवात्माके रहनेभरके लिये है। यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इस शरीरमें होनेवाली बाल-युवा-वृद्धावस्थाको जाननेवाला आत्मा सदा एक-सा रहता है। तुम कहते हो, 'मैं पहले बालक था, यों खेलता था। जवानीमें मेरे शरीरमें बड़ी शक्ति थी, अब बुढ़ापेमें मैं शक्तिहीन हो गया।' यों कहनेवाले तुम आत्मा इस शरीरसे पृथक् हो, यह सिद्ध है। यों समझकर इस शरीरसे आसक्ति-ममताका त्याग करो और जबतक शरीर है, तबतक समबुद्धिसे प्राप्त भोगोंका भोग करते हुए इसे भगवत्साधनामें सहायक बनाये रक्खो।

याद रक्खो—तुम्हारा जब भगवान्‌में अनुराग हो जायगा या आत्मस्वरूपमें तुम्हारी स्थिति हो जायगी, तब तो तुम भोगोंको विषकी भाँति या स्वप्नराज्यकी भाँति स्वयमेव ही त्याग दोगे। परंतु पहलेसे ही उनमें बार-बार दोष-दुःख देखकर और बन्धनका परम कारण मानकर उनकी आसक्तिका त्याग करो।

याद रक्खो—असली त्याग तो मनकी भोगासक्तिके त्यागमें ही है और वही सच्चा वैराग्य है। परंतु जहाँ-तक बने, विषय-सेवन कम-से-कम करो; विषयोंमें रमणीयता तथा सुखका बोध छोड़कर उनका केवल आवश्यकता होनेपर ही सेवन करो। भोगोंका संग्रह-परिग्रह भी भोगोंकी आसक्तिको बढ़ानेवाला है। भोगासक्त तथा भोगसम्पन्न मनुष्योंकी ओर मत देखो, देखो विषयविरागी त्यागी महात्माओंकी ओर। सङ्ग करो, उन विषयविरागी महात्माओंके चरित्रों और उपदेशोंका, जिससे भोगरूपी मीठे विषके प्रति तुम्हारे मनमें अनास्था, अनासक्ति पैदा होकर उनमें यथार्थ वैराग्य हो जाय।

याद रक्खो—भोगी पुरुष सदा ही भय और विषादके जालमें फँसा रहेगा—प्राप्त भोगके नाशका भय और नाश हो जाने या न मिलनेपर महान् विषाद और शोक। परंतु जिसकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है, वह सदा निर्भय और शोकरहित एवं परमानन्दमें रहेगा। वैराग्यवान् पुरुषको कोई भी परिस्थिति दुखी नहीं बना सकती।

'शिव'

वैराग्य

(लेखक—स्वामीजी अनन्तश्री चिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

अर्थात् एकान्तवासमें रहनेवाले पूर्ण वैराग्यवान् ज्ञानीको जो सुख प्राप्त है, वैसा सुख देवताओंके राजा इन्द्रको भी नहीं होता; फिर भला इस पृथिवीके ऊपर किसी सम्राट्को कहाँसे होगा। देवलोकके तथा भूलोकके सारे सुख अल्प तथा नाशवान् हैं; और वैराग्यवान् ज्ञानीको तो स्वरूपका सुख होता है, इसलिये वह पूर्ण और अक्षय होता है।

स्वरूपकी प्राप्तिके लिये वैराग्य अत्यन्त आवश्यक साधन है, अतएव इसका स्वरूप जानना चाहिये, जिससे इसको जीवनमें उतारना सुकर हो जाय।

विगतः रागः यस्मात् स विरागः। विरागस्य भावः वैराग्यम्।

राग अर्थात् आसक्ति जिसकी निवृत्त हो गयी है, वह विराग अथवा वीतराग है। और विरागसे भाव-वाचक संज्ञा होती है—वैराग्य। इसके द्वारा वैराग्य और त्याग दोनोंका भेद समझमें आ जायगा। त्यागकी साधनामें पदार्थोंको छोड़ना पड़ता है और वैराग्यकी साधनामें पदार्थोंमेंसे आसक्ति दूर करनी पड़ती है। अर्थात् त्याग स्थूल क्रिया है—शारीरिक क्रिया है और वैराग्य मानसिक क्रिया है। यह बात समझाते हुए भगवान्ने गीतामें कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(२।५९)

भाव यह है कि मनुष्य धीरे-धीरे विषयोंका त्याग करता है और इससे उसकी इन्द्रियोंको खुराक न मिलनेपर वे शिथिल हो जाती हैं। फल यह होता है कि विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; पर उसमें भोगकालकी अनुभवजन्य सूक्ष्म वासना रह जाती है। परंतु परमानन्दरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेके बाद परम वैराग्य जाग्रत् होता है और इससे विषय-सुख तुच्छ लगने लगते हैं तथा विषयोंमें रहनेवाली सूक्ष्म वासना भी नष्ट हो जाती है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि 'विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर उनमें सूक्ष्म वासना रह जाती है'—यह समझनेकी बात है। मधुर जिह्वास्वादके लिये हम गुड़ खाते हैं। किसी मनुष्यने किसी कारण-वश गुड़ न खानेका नियम ले लिया और इससे गुड़ खानेका त्याग हो गया। परंतु गुड़की मिठासका उसको अनुभव हो चुका है, उस अनुभवसे उत्पन्न अभिलाषा या सूक्ष्म वासना उसके अन्तरमें रह गयी। इस कारण जब-जब उसकी दृष्टि गुड़पर पड़ती है, तब-तब उसको खानेकी इच्छा तथा उसका रस लेनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। प्रश्न यह होता है कि यह अभिलाषा नष्ट कब होती है?—उत्तर देते हैं कि जब आत्माके आनन्दस्वरूपका अनुभव होता है, तब इस प्रकारके भवानन्दका विस्मरण अपने आप हो जाता है। इसके लिये फिर कोई यत्न नहीं करना पड़ता। इस बातको समझाते हुए शास्त्र कहता है—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो ना भिक्षामाकाङ्क्षते यथा।
एवं लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति॥

भाव यह है कि त्रिलोकीका राज्य मिल जानेके बाद जैसे पुरुष भीख माँगनेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार निरतिशय आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला क्षणिक आनन्दकी इच्छा नहीं करता।

अब वैराग्यका माहात्म्य देखिये। पातञ्जलयोगसूत्रमें लिखा है—**वीतरागविषयं वा चित्तम्।** चित्त-निरोधके अनेक उपायोंको बतलाते हुए भगवान् पतञ्जलिने एक उपायके रूपमें इस सूत्रको प्रस्तुत किया है। भाव यह है कि श्रद्धेय वीतराग पुरुषका सतत ध्यान करने-

से भी चित्तका निरोध होता है। वीतराग पुरुषका अर्थ है वैराग्यवान् पुरुष। जब वैराग्यवान् पुरुषके ध्यानसे भी चित्तका निरोध हो जाता है, तब जो मनुष्य स्वयं वैराग्य धारण करता है, उसके लिये तो इसे सहज साध्य समझना चाहिये। इसीसे '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**'— यह सूत्र दिया गया है। और वैराग्यको चित्तनिरोधका प्रत्यक्ष साधन बतलाया गया है।

हम पहले देख चुके हैं कि आत्मसाक्षात्कार होनेके बाद ही परम वैराग्यकी दशा उत्पन्न होती है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर वैराग्यका एक दूसरे ही प्रकारसे अर्थ किया गया है, जो इस प्रकार है—

न विरक्ता धनैस्त्यक्ता न विरक्ता दिगम्बराः।
विशेषरक्ताः स्वपदे ते विरक्ता मता मम॥

भाव यह है कि जो घर-धन आदि तथा स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर वनमें जाते हैं, वे सच्चे विरक्त या वैराग्यवान् नहीं हैं। तथा जिसने लँगोटीतकको त्याग दिया है, इस प्रकारका दिगम्बर अर्थात् दिशारूपी वस्त्रधारण करनेवाला अवधूत भी सच्चा विरक्त नहीं। मेरे विचारसे परम वैराग्यको धारण करनेवाला वही पुरुष है, जो अपने स्वरूपमें विशेषरूपसे रागयुक्त है, अर्थात् जिसकी स्वरूपमें स्थिति है या जिसे स्वरूपकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छाके सिवा दूसरी कोई इच्छा ही नहीं होती, वही परम त्यागी या परम विरक्त है।

अब दूसरे प्रकारसे देखिये। पहले हमने रागकी निवृत्तिरूप वैराग्यको बतलाया, उसे साधनरूप वैराग्य कह सकते हैं। और फिर इच्छामात्रके त्यागके द्वारा स्वरूप-प्राप्तिकी तीव्र इच्छारूपी वैराग्यको कहा, वह साध्यरूप वैराग्य कहलाता है; क्योंकि यहाँ वैराग्यकी आवश्यकता केवल स्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही होती है। साधनरूप वैराग्य पहले प्राप्त करना चाहिये। जीव अनेक जन्मोंसे विभिन्न प्रकारकी शक्तियाँ धारण करता चला आ रहा है। प्रत्येक शरीरमें वह अपनी इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता रहा है और इससे विषयोंमें इसकी दृढ़ आसक्ति बँध गयी है। इस आसक्ति अर्थात् रागको दूर करना है। केवल पदार्थोंको छोड़ देनेसे उनमें रहनेवाले रागका नाश नहीं होता। यह श्लोक इसी बातको कहता है—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणो
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

रागी यदि गृहस्थाश्रमका त्याग करके जङ्गलमें जाय तो वहाँ भी यदि वह रागका त्याग न करे तो उसके आचरणमें दोष आ जाते हैं। और एक दूसरा आदमी जिसने रागका त्याग कर दिया है तथा पाँचों इन्द्रियोंको संयममें रखकर गृहस्थाश्रममें रहता है, वह तपस्वी ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका जीवन सदाचारमय रहता है। तात्पर्य यह है कि जिसने विषयोंमेंसे राग अर्थात् आसक्तिको निवृत्त कर दिया है, उसका घर ही तपोवन बन जाता है। वीतरागी पुरुषके लिये घर छोड़कर जङ्गलमें जाना जरूरी नहीं होता; और जिसने रागको नहीं छोड़ा, उसका जङ्गलमें जाना कोई अर्थ नहीं रखता। [रागकी निवृत्तिकी साधनाके लिये एकान्तवासकी बहुत ही आवश्यकता है, यह बात भूलनेयोग्य नहीं है।]

अब यह देखना है कि रागका त्याग कैसे किया जाय। साधारणतया मनुष्यका खाने-पीने तथा पहनने-ओढ़नेके पदार्थोंमें राग होता है। यह राग विवेकसे छूटता है। मनुष्य विवेकके द्वारा विचार करे कि संसारके भोग-पदार्थ नाशवान् हैं और भोगकालमें सुखकी भ्रान्ति कराकर दुःखकी स्थितिमें ही ढकेल देनेवाले हैं। शरीर है, अतः उसके निर्वाहके लिये खान-पान आवश्यक है। परंतु खान-पानके लिये जीवन आवश्यक नहीं है। अतः खान-पानके पदार्थोंमें मोह नहीं रखना चाहिये। ओषधि जैसे

आवश्यकता पड़नेपर ही ली जाती है उसका कोई शौक नहीं करता, उसी प्रकार खान-पान शरीरको बनाये रखनेके लिये ही है। इसी प्रकार शीत और घामसे बचाव करनेमात्रके लिये पहनने और ओढ़नेके वस्त्रकी आवश्यकता है। उनसे शृङ्गार करके रूपवान् दिखलानेकी कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहनेसे भोगासक्ति अवश्य शिथिल पड़ जाती है। अनेक जन्मोंका भोगका अभ्यास है, अतएव इसे दूर करनेके लिये इस दूर करनेके अभ्यासको भी दीर्घकालतक दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिये।

विषयोंसे इस प्रकार रागकी निवृत्ति करके, फिर शरीरमेंसे रागकी निवृत्ति करनी चाहिये। शरीरके साथ जीवका अनादिकालसे परिचय है और शरीरके द्वारा ही जीव अनेकों भोगोंको भोगता आ रहा है तथा इसी कारण शरीरको अपना स्वरूप मान बैठा है। अतएव शरीरमेंसे रागकी निवृत्ति करनेके विचारका आश्रय लेना चाहिये। मैं प्रतिदिन वस्त्र धारण करता हूँ और प्रतिदिन उसे उतारता हूँ—तथा मैला होनेपर उसे बदल देता हूँ और फट जानेपर उसे फेंककर दूसरा सिलवाता हूँ। तथापि मैं मानता हूँ कि मैं कपड़ेसे अलग हूँ, तथा उसका उपयोग शरीरको ढँकनेभरके लिये है। इसी प्रकार मैं शरीरसे पृथक् हूँ; क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि जवानीमें यह शरीर जैसा सशक्त था, वैसा अब वृद्धावस्थामें नहीं है। अर्थात् शरीरकी अवस्था बदलती है, पर मैं अपने मूल-स्वरूपमें ही रहता हूँ। जैसे कपड़े बदलनेपर मेरे शरीरमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार शरीर छोटा हो या बड़ा, जवान हो या बूढ़ा, सशक्त हो या अशक्त—मुझमें कोई फेरफार नहीं होता। जैसे रहनेके लिये घर होता है, उसी प्रकार जीवको कर्मफल भुगतानेके लिये शरीर एक धर्मशाला-रूप ही है। इसी कारण शरीरका एक नाम "भोगायतन" अर्थात् भोग भोगनेका स्थान है। फिर मैं बहुधा अनुभव करता हूँ कि अमुक विषयको मेरा मन नहीं मानता, अथवा मेरी बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती। इससे यह निश्चय होता है कि मैं मन-बुद्धिसे पृथक् हूँ। इसी प्रकारके निरन्तर अभ्याससे शरीरमेंसे राग निवृत्त हो जाता है। शरीरमेंसे आसक्ति छूट जानेपर केवल शरीरके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्रादि तथा घर-धन आदिमेंसे आसक्ति छोड़ते कुछ देर नहीं लगती।

सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।

अर्थात् जबतक शरीर है, तभीतक प्राणी-पदार्थोंके साथ सम्बन्ध है; आँखें मुँद जाने अर्थात् शरीरकी मृत्यु हो जानेपर तो यह सम्बन्ध अपने-आप छूट जाता है। अतएव जीते-जी क्यों न उस सम्बन्धको छोड़ दिया जाय, जिससे निश्चिन्तता प्राप्त हो।

इस प्रकार रागमात्रकी निवृत्ति होनेपर साध्यरूप वैराग्य जाग्रत् होता है। और उससे अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त तीव्र इच्छा जाग्रत् हो जाती है तथा साधक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण ढूँढ़ता है। ऐसे समयमें गुरु श्रोत्रिय न हो तो भी काम चल सकता है, परंतु ब्रह्मनिष्ठ तो होना ही चाहिये; क्योंकि जिसने स्वरूपका अनुभव नहीं किया, वह दूसरेको स्वरूप-ज्ञान कहाँसे करा सकता है। गुरुकी शरणमें जानेपर अधिकार देखकर गुरु कहते हैं—'तत्त्वमसि'। अर्थात् जिसको तू ढूँढ़ता है, वह तू खुद ही है। हे भाई! जो ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, वही तू है। इस प्रकार क्षणमात्रमें ही तीव्र इच्छावाला वैराग्यवान् अधिकारी मुमुक्षु आत्म-दर्शन कर लेता है। कहते हैं कि पलकके बंद होकर खुल जानेमें जितनी देर लगती है, आत्मदर्शन होनेमें उतनी देर भी नहीं लगती। अथवा एक फूलको तोड़नेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी स्वरूप-साक्षात्कार होनेमें नहीं लगती। देर लगती है केवल

साधन-सम्पन्न अधिकारी होनेमें ही। अधिकार होनेके बाद तो तुरंत ही स्वरूप-दर्शन हो जाता है।

विषयोंमेंसे रागकी निवृत्ति कैसे की जाय, इस विषयमें श्रीविद्यारण्यमुनिने बहुत ही सुन्दर रीतिसे समझाया है—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥

(१) सांसारिक विषयोंमें दोष देखना (गुण नहीं देखना), (२) विषयोंका त्याग करनेका दृढ़ निश्चय, (३) भोगोंके अधीन न होना। विषयोंको छोड़ना ही है, यह निश्चय कर लेनेके बाद भोगोंकी इच्छा करना दीनता है और ऐसी इच्छा न करना अदीनता है। ये तीनों वैराग्यके लिये क्रमशः असाधारण हेतु, स्वरूप और कार्य हैं।

शास्त्रोंमें सर्वत्र वैराग्यकी महिमा गायी गयी है, उसका कुछ उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

'विषयोंमेंसे रसकी—रागकी निवृत्ति करना ही मोक्ष है और विषयोंमें रसवृत्ति—रागका रहना ही बन्धन है। बस, इतना ही विज्ञान है। यह जाननेके बाद इच्छानुसार कार्य करनेमें तुम स्वतन्त्र हो। न्यायदर्शन कहता है—

वीतरागजन्मादर्शनात्। 'जिसने रागमात्रकी निवृत्ति कर ली है, उस वीतराग पुरुषको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, गर्भवासका दुःख फिर भोगना नहीं पड़ता।'

योगवासिष्ठमें भी आया है—

गोपदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालंकृताकृतेः॥

'सांसारिक विषयोंसे रागकी निवृत्ति करके हे प्रिय रामचन्द्रजी! जो पुरुष आशारहित हो गया है, उसको बाह्य वस्तुएँ तुच्छ लगती हैं। उसकी दृष्टिमें पृथिवी गौकी खुरीके बराबर, मेरु पर्वत एक छोटे-से खंभेके बराबर, आकाश अँगूठीके बराबर तथा तीनों लोक घासके तिनकेके समान तुच्छ दीखते हैं।'

विषयासक्तिनाशेन विना न श्रवणं भवेत्।
ताभ्यामृते न मननं न ध्यानं तैर्विना भवेत्॥

'विषयासक्तिका नाश किये बिना अर्थात् परम वैराग्यकी साधनाके बिना श्रवण नहीं हो सकता, वैराग्य और श्रवणके बिना मनन नहीं हो सकता तथा इन तीनों अर्थात् वैराग्यपूर्वक श्रवण और मनन किये बिना ध्यान अर्थात् निदिध्यासन नहीं हो सकता।' भाव यह है कि जबतक पूर्ण वैराग्यकी दृढ़ता नहीं हो जाती, तबतक अध्यात्मज्ञानका कोई भी साधन सफल नहीं होता।

एक दूसरे प्रसङ्गमें वशिष्ठजी यहाँतक कहते हैं कि—

मातुरङ्कगतो बालो ग्रहीतुं चन्द्रमिच्छति।
यथा योगं तथा योगी संत्यागेन विनाबुधः॥

तात्पर्य यह है कि माताकी गोदमें खेलता हुआ बालक चन्द्रमाको पकड़नेका यत्न करता है, उसको हम अवश्य ही अज्ञानी कहते हैं; इसी प्रकार जो योगी परम वैराग्यकी प्राप्तिके बिना योगकी साधनामें प्रवृत्त होता है, उसको भी अज्ञानी ही जानना चाहिये—अबुध समझना चाहिये; क्योंकि परम वैराग्यके बिना भक्ति, ज्ञान या योगका कोई भी साधन सफल नहीं होता।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'जब पुरुष विषयोंसे सुख पानेकी लालसाका त्याग कर देता है, अर्थात् जब वह पूर्ण वैराग्यवान् बन जाता

है, तब उसको अपने सुख-स्वरूपका आनन्द प्राप्त होता है तथा वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है और अक्षयसुख प्राप्त करता है।'

श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः।

अर्थात् समस्त स्त्री-पुत्रादि तथा गृह-वित्त आदि परिग्रहका त्याग तथा समस्त विषयभोगोंमें रागकी निवृत्ति-रूप वैराग्य किसको सुखप्रद नहीं होता! अर्थात् सबको सुखरूप होता है।

भर्तृहरिजी एक प्रसङ्गमें कहते हैं—

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

अर्थात् इस जगत्‌में प्रत्येक परिस्थितिमें भय रहता है। केवल वैराग्यका आश्रय ही एक निर्भय स्थिति है।

कबीर साहब भी कहते हैं—

चाह गई, चिंता गई, मनवाँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहनशाह॥

विषयोंसे जन्म-मरणका बन्धन कैसे होता है, यह समझाते हुए श्रीव्यासजी विष्णुपुराणमें कहते हैं—

यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति॥

'जिन-जिन प्राणी-पदार्थोंमें मन प्रीति बाँधता है, उनमें वह आसक्त हो जाता है और यह आसक्ति ही भावी दुःखको उत्पन्न करती है।' बारंबार जन्मने और बारंबार मरनेके चक्करमें पड़नेसे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई भी दुःख नहीं है। इस दुःखसे छूटनेका उपाय बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तिर्मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥
विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परेश्वरम्॥

'बन्धन करानेवाला तथा उससे निवृत्ति करानेवाला मन ही है। विषयोंमें आसक्त रहनेवाला मन बन्धन कराता है और विषयोंसे छुटकारा पाया हुआ मन ही मोक्ष दिलाता है। अतएव मुक्तिकी कामनावाले मुनि मनको विषयोंसे हटाकर अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये परमात्माके चिन्तनमें लगाते हैं।' इस प्रकार मोक्षके लिये वैराग्यकी अनिवार्य आवश्यकता है।

इसीलिये अष्टावक्रजी चेतावनी देते हुए कहते हैं—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।

'यदि मुक्तिकी इच्छा हो तो विषयोंको विषके समान छोड़ दो।' विषयोंको—अर्थात् भोगवासनाको—विषयों-से सुख पानेकी लालसाको छोड़ दो। क्योंकि विषयभोग जन्म-मरण प्रदान करनेवाले हैं तथा वैराग्य इनकी निवृत्ति करके मोक्ष-सुख प्रदान करता है।

यदि तुम्हें पाऊँ

नयनमें पूतरी सरिस मैं बसाऊँ, बैन में बरनमाला रूप तोकहँ सजाऊँ मैं।
मोहअन्धकारके समान ही हृदय माहिं मूरति तिहारी नेह सानि कै जमाऊँ मैं॥
मस्तकमें कारे केस ही सो बेस, तेरो ध्यान सकल सुज्ञान सीस ऊपर चढ़ाऊँ मैं।
नस नस रोम रोम तेरो रूप छाऊँ जो पै, 'कबिराज हंस' मेरे स्याम! तोहि पाऊँ मैं॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

चतुःश्लोकी भागवत

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

निवेदन

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थ वस्तुका उपदेश किया। वही उपदेश 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे प्रसिद्ध है।

जब ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई, तब उनके सोच विचार करते समय एक दिन अकस्मात् प्रलयकी उस अनन्त जलराशिमें उन्हें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुनायी पड़ा। उसका पहला अक्षर तो 'त' था और दूसरा 'प'। अर्थात् उन्होंने 'तप-तप' ऐसा सुना। इसे तप करनेके लिये भगवान्की आज्ञा मानकर और उसीमें अपना परम हित समझकर उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अपना परमधाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया। उस परम दिव्य लोकका और उसमें भगवान्का दर्शन करके ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर गया, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर ब्रह्माजीने भगवान्के चरणकमलोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय भगवान् बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने बड़े प्रेमसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया और कहा—'ब्रह्मन्! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो।'

तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं, सबके हृदयमें आप अन्तर्यामी-रूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने दिव्य ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ। फिर भी आपसे मैं यह याचना कर रहा हूँ। आप कृपा करके मेरी माँग पूरी कीजिये। प्रभो! आप रूपरहित हैं; तथापि मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाको स्वीकार करके इस विविध शक्तिसे युक्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेके लिये अपने आपको ही अनेक रूपोंमें बना लेते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सावधानीपूर्वक आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्त्तापन आदिके अभिमानसे रहित रहूँ।'

ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उन्हें भागवतका साररूप निम्नलिखित उपदेश किया, जो श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धके नौवें अध्यायके तीसवें-से छत्तीसवें श्लोकोंमें वर्णित है। इन सात श्लोकोंमें प्रथम दो श्लोक तो उपक्रमके रूपमें हैं और अन्तिम एक श्लोक उपसंहारके रूपमें है; शेष बीचके चार श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे कहा जाता है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें बतलाया गया है—

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत्॥

प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता॥
(अ० ४। ५-६)

'जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत चार प्रकारके साधनोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे 'श्रीमद्भागवत' समझो श्रीमद्भागवत अनन्त अक्षर-स्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला, कौन जान सकता है। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शन कराया था।'

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥ ३०॥

श्रीभगवान् बोले—

	(ब्रह्मन्!)
मे	**=मेरा**
यत्	**=जो**
परमगुह्यम्	**=परम गोपनीय**
विज्ञानसमन्वितम्	**=विज्ञानसहित**
ज्ञानम्	**=ज्ञान है, उसका**
च	**=तथा**
सरहस्यम्	**=रहस्यसहित**
तदङ्गम्	**=उसके अङ्गोंका**
मया	**=मेरेद्वारा**
गदितम्	**=वर्णन किया जाता है,**
(तत्)	**=उसे**
गृहाण	**=तुम ग्रहण करो।**

व्याख्या—ब्रह्मन्! मेरे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूपके तत्त्व, प्रभाव, माहात्म्यका यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञान' है तथा सगुण निराकार और दिव्य साकार स्वरूपके लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और माहात्म्यका वास्तविक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। यह विज्ञानसहित ज्ञान समस्त गुह्य और गुह्यतर विषयोंसे भी अतिशय गुह्य—गोपनीय है, इसलिये यह परम गुह्य—सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है। ऐसे परम गोपनीय ज्ञानके साधनोंका मैं रहस्यसहित वर्णन करता हूँ, तुम उसे सुनकर धारण करो।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (९। १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस गुह्यतम—परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको (पुनः) भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१॥

अहम्	**=मैं**
यावान्	**=जितना हूँ,**
यथाभावः	**=जिस भावसे युक्त हूँ,**
यद्रूपगुणकर्मकः	**=जिन रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ,**
तत्त्वविज्ञानम्	**=उन सबके तत्त्वका विज्ञान**
ते	**=तुम्हें**
मदनुग्रहात्	**=मेरी कृपासे**
तथैव	**=ज्यों-का-त्यों**
अस्तु	**=प्राप्त हो जाय**

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चेतन, यावन्मात्र—जितना जो कुछ भी है, वह सब मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ तथा मैं सच्चिदानन्दमय भावस्वरूप हूँ एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, ज्ञान, प्रेम, उदारता, वात्सल्य, सौहार्द आदि अनन्त असीम दिव्य गुणोंसे सम्पन्न तथा लोगोंका उद्धार करनेके लिये नानाविध दिव्य अलौकिक कर्म—लीलाओंसे युक्त जो मेरा सगुण-साकार रूप है, मेरे उस विज्ञानसहित ज्ञानमय समग्र स्वरूपका तत्त्व तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय ।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३२ ॥

अग्रे =सृष्टिके पूर्व
एव =भी
अहम् =मैं
एव =ही
आसम् =था;
अन्यत् =मुझसे भिन्न कुछ भी
न =नहीं था ।
च =और
यत् =(सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी
एतत् =यह दृश्यवर्ग है,
(वह मैं ही हूँ ।)
यत् =जो
सत् =सत् (अक्षर)
असत् =असत् (क्षर)
परम् =और उससे परे (पुरुषोत्तम) है,
(वह सब मैं ही हूँ ।)
पश्चात् =(तथा) सृष्टिकी सीमाके बाद भी
अहम् =मैं ही हूँ ।
यः =(एवं इन सबका नाश हो जानेपर) जो कुछ
अवशिष्येत =बच रहता है,
सः =वह (सब भी)
अहम् =मैं (ही)
अस्मि =हूँ ।

व्याख्या—सृष्टि—महासर्गके पूर्व भी मैं ही था । मेरे सिवा और कुछ भी नहीं था । और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ तथा सत्—अक्षर और असत्—क्षर एवं उससे परे जो पुरुषोत्तम ईश्वर है, सब मेरा ही स्वरूप है ('सदसच्चाहमर्जुन'—गीता ९ । १९; 'सदसत् तत्परं यत्' —गीता ११ । ३७) । तथा सृष्टिकी सीमाके पश्चात्—जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ जो केवल निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह भी मैं ही हूँ और सृष्टिका विनाश होनेपर जो शेषमें बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ ।

अभिप्राय यह कि जैसे बादलोंके उत्पन्न होनेसे पहले केवल आकाश ही था, उसके सिवा और कुछ भी नहीं था तथा बादल और उनका गरजना-बरसना, बिजलीका चमकना आदि सब आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है—'आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी ।' (तैत्तिरीय उप० वल्ली २ अनु० १) । अतः आकाश ही वायु, तेज, जल, पृथ्वीका मूल कारण होनेसे यह सब कुछ आकाश ही है । तथा जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ—बादलोंकी सीमाके परे भी आकाश ही है एवं बादल आदिका विनाश होनेपर केवल आकाश ही रह जाता है । उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें तथा उसकी सीमाके परे भी सदा ही विद्यमान रहते हैं ।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन । (१० । ३२ का पूर्वार्ध)

'अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ ।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ (गीता १० । ३९)

'एवं अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।'

अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने ब्रह्माजीको यही भाव समझाया है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति । (गीता ७ । ७)

'मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है ।'

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥ ३३ ॥

यथा	=जैसे
आभासः	=आभास अर्थात् किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, प्रतीतिमात्र ही है, (उसी प्रकार)
अर्थम्	=(मुझ) परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके
ऋते	=अतिरिक्त
आत्मनि	=परमात्मामें
यत्	=जो कुछ
प्रतीयेत	=प्रतीत होता है, (वह वास्तवमें कुछ नहीं है ।)
च	=एवं
यथा	=जैसे (विद्यमान होते हुए भी)
तमः	=तम अर्थात् राहु ग्रहकी प्रतीति नहीं होती, (इसी प्रकार वास्तवमें सत् होते हुए भी जो मुझ परमात्माकी)
न प्रतीयेत	=प्रतीति नहीं होती ।
तत्	=यह दोनों प्रकारकी ही
आत्मनः	=मेरी
मायाम्	=माया है—यों
विद्यात्	=समझना चाहिये ।

व्याख्या—जैसे नेत्रोंके दोषसे आकाशमें तिलमिले या जाले-से दिखलायी पड़ते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें परमात्मासे भिन्न प्रकृतिका कार्यरूप यह जडवर्ग माया (अज्ञान) के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है; तथा जैसे आकाशमें विद्यमान रहते हुए भी राहु ग्रह दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द परमात्मा वास्तवमें ध्रुव सत्य होनेपर भी माया (अज्ञान) के कारण प्रतीत नहीं होता । बिना हुए ही इस जड संसारकी प्रतीति होना और वास्तवमें सत् होते हुए भी परमात्माकी प्रतीति न होना—इन दोनोंमें माया (अज्ञान) ही कारण है ।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३४ ॥

यथा	=जैसे
उच्चावचेषु भूतेषु	=प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें
महान्ति भूतानि	=(आकाशादि पाँच) महाभूत
अनु-प्रविष्टानि	=प्रविष्ट भी हैं (और)
अप्रविष्टानि	=प्रविष्ट नहीं भी हैं,
तथा	=उसी प्रकार
तेषु	=उनमें (मैं प्रविष्ट हूँ भी)
तेषु	=(और वास्तवमें) उनमें
अहम्	=मैं
न	=प्रविष्ट नहीं हूँ ।

व्याख्या—जैसे पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें प्रविष्ट हुए दिखलायी देते हैं, उसी प्रकार मैं उन सब शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ-सा दिखलायी पड़ता हूँ; परंतु वास्तवमें पाँचों महाभूत उन शरीरोंमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी उनमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हूँ।

भाव यह है कि जैसे आकाशके कार्यरूप बादलोंके समुदायमें आकाश प्रविष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें वह उनमें प्रविष्ट नहीं है; क्योंकि बादलोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, बादलोंके न रहनेपर भी आकाश रहता है और बादलोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चले जानेपर आकाशका उनके साथ गमन नहीं होता; इस दृष्टिसे बादलोंमें होते हुए भी आकाश उनमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं है। आकाशकी भाँति ही कोई भी महाभूत अपने कार्यमें आबद्ध नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हुए-से प्रतीत होते हैं परंतु वास्तवमें वे जगत्‌में प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं; क्योंकि वे निर्विकार, निष्क्रिय और निर्लेप हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी परमात्मा विद्यमान रहते हैं। जिस जगह जगत् नहीं है, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान हैं।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३५ ॥

आत्मनः = परमात्माके
तत्त्वजिज्ञासुना = तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्यको
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् = विधिरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे हैं,' 'परमात्मा ऐसे हैं'—इस भावसे तथा निषेधरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे भी नहीं', 'परमात्मा ऐसे भी नहीं'—इस भावसे
एतावत् = इतना
एव = ही
जिज्ञास्यम् = जानना आवश्यक है
यत् = कि (परमात्मा ही)
सर्वत्र = सब देशमें
सर्वदा = (और) सब कालमें
स्यात् = विद्यमान हैं।

व्याख्या—परमात्मा विज्ञानानन्दघन हैं, सदा सबमें समभावसे स्थित हैं, सर्वव्यापी, सर्वत्र परिपूर्ण और परम शान्तिस्वरूप हैं,इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिरूपसे किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'अन्वय' रूपसे वर्णन है। एवं परमात्मा आकारवाला नहीं, विकारोंवाला नहीं, क्रियावाला नहीं, मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं, संकेतमें आनेवाला नहीं, व्यक्त नहीं, चलनशील नहीं, सान्त नहीं, सीमावाला नहीं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका निषेधरूपसे वर्णन किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'व्यतिरेक' रूपसे वर्णन है।

परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जाननेकी इच्छावाले साधकको चाहिये कि उपर्युक्त दोनों प्रकारोंसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३६ ॥

(ब्रह्मन् !)
भवान् =तुम
परमेण =उत्कृष्ट
समाधिना =समाधिके द्वारा
एतत् =मेरे इस
मतम् =सिद्धान्तमें
समातिष्ठ =भलीभाँति स्थित हो जाओ।
(इससे तुम)
कल्पविकल्पेषु =कल्प-कल्पान्तरोंमें भी
कर्हिचित् =कभी कहीं भी
न, विमुह्यति = मोहित नहीं होगे।

व्याख्या—ब्रह्मन् ! तुम सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित परम समाधिमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक मेरे इस उपर्युक्त सिद्धान्तको भलीभाँति स्वीकार करो । यों करनेसे तुम अनेक कल्प-कल्पान्तरोंमें सृष्टिकी रचना करते हुए कभी कहीं भी मोहित नहीं होओगे ।

इस प्रकार भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीको आदेश दिया है । अतः साधकको चाहिये कि वह सब प्रकारसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है । यों करनेसे वह शोकमोहादि सम्पूर्ण विकारों और दुःखोंसे मुक्त हो परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो सकता है ।

पथिक रे !

(रचयिता—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

पथिक रे ! अभी कहाँ विश्राम !!
रुकना तेरा धरम नहीं है, चलना तेरा काम ॥
जनम-जनमका तू यात्री है, जुग-जुग, आठों याम ।
चल, चल, चल, उठ, उठ, आगे बढ़, क्यों रुकता बेकाम ?
पथिक रे !

अरे बटोही ! ठीक समझ ले, गति जीवनका नाम ।
गति मिलती है निष्ठासे ही, भ्रमपर डाल लगाम ॥
पथिक रे !

लक्ष्य निकट फिर घड़ी यही शुभ, देख ! दूर है शाम ।
भ्रम-संशयसे भटका अबतक दिखता दूर मुकाम ॥
पथिक रे !

संशयसे ही सर्वनाश है, ले निश्चयसे काम ।
एक दृष्टि रख, एक लक्ष्य रख, कर निर्णय अविराम ॥
पथिक रे !

लक्ष्य भूलकर मारग भटका, अटका ग्राम-कुग्राम ।
दृष्टि न बिगड़े, लक्ष्य न भूले, तब ही पंथी नाम ॥
पथिक रे !

देह नहीं रे ! तू देही है, क्या श्रम ! क्या विश्राम !!
चेतन, दिव्य, चिरंतन है तू, अविनाशी बल-धाम ॥
पथिक रे !

देह-भावसे सारी दुर्गति, खूब चुकाया दाम ।
भय-भ्रम तज दे, मूढ़ न बन फिर, सन्मुख शुभ परिणाम॥
पथिक रे !

इधर-उधर क्यों तके सहारा ? खुद अपनेको थाम ।
पंथ अनूपम, पग-पग पावन, भीतर है सुखधाम ॥
पथिक रे !

'एकाकी हूँ'—इस कुभावसे बिगड़ा खेल तमाम ।
गरभ-दशामें जो रक्षक था भूल न उसका नाम ॥
पथिक रे !

बाहर तेरे शत्रु नहीं हैं, घटमें कर संग्राम ।
चल कुछ ऐसी चाल मुसाफिर ! मिले सदा आराम ॥
पथिक रे !

विश्व-पथिकता तज अब प्यारे ! तज सब मारग बाम ।
आप स्वयं तू विश्व-रूप है तुझमें तेरा राम ॥
पथिक रे ! अभी कहाँ विश्राम !!

भोग और भगवान्

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यह ठीक है कि सभी कामनाओं तथा वरोंके उद्गम—सर्वश्रेष्ठ प्रापक भगवान्‌के श्रीचरण ही हैं[1]। और यह भी ठीक है कि एक ही साथ समस्त कामनाओंकी पूर्ति भी एकमात्र भगवद्भजनसे ही सम्भव है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०)

क्योंकि निखिल ब्रह्माण्डाधिपति होनेके साथ-साथ वे सर्वोपरि उदार तथा परम स्वतन्त्र—सर्वथा निजतन्त्र भी हैं[2]। अतः उनके तनिक भी प्रसन्न हो जानेपर विश्वकी कोई भी वस्तु, स्वाराज्य, साम्राज्य, ऐन्द्र, ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पद भी दुर्लभ नहीं; वे बड़ी सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं[3]। अधिक क्या, जिन मङ्गलमयी महालक्ष्मीके कृपाकटाक्षके लिये ब्रह्मादि देवताओंने युगोंतक तपस्या की, वे ही चञ्चला कमला अपने निवासस्थान कमलवनका परित्याग कर बड़े अनुरागसे प्रभुके श्रीचरणोंमें सुस्थिर हुईं। तब भला, उन चरणोंके आश्रय—समाराधनसे बढ़कर उन लक्ष्मीकी कृपाप्राप्ति—ऐश्वर्यलाभका साधन भी क्या हो सकता है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥[4]

(श्रीमद्भा० १ । १६ । ३२)

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोक सुठौरहि ।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सुर मौरहि ॥

(कवितावली, उत्तर० २६)

जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कबहूँ ।
हरि पद पंकज पाइ अचल भइ कर्म बचन मनहूँ ॥

(विनय०)

अखिलब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के चरणोंके शरण होकर उनका ध्यान करते हुए उनके नाम-जपसे लौकिक स्रग्-चन्दन-वनितादि भोगोंकी तो बात ही क्या, अणिमादिक दिव्य ऐश्वर्य तथा विभवभोग भी दौड़े आते हैं—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ[5] ॥
जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ । धर्मसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥
यथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास ।
राम नाम सब धर्ममय जानत तुलसीदास ॥

बिना किसी योग, जप, तप, यज्ञ, व्रतका अनुष्ठान किये, बिना ही कोई क्लेश उठाये, एकमात्र श्रीरामभद्र राघवेन्द्रके

---

१. सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ।
(श्रीमद्भा० २ । ६ । ६)

२. (क) ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं ।
(ख) एकै दानि सिरोमनि साँचो ।
जोइ जाच्यो सोइ जाचकताबस फिरि बहु नाच न नाचो ।

३. तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे ।
(श्रीमद्भा० ४ । १८ । २०)

४. (क) नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ८ । २३)

(ख) श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । २२)

५. (क) यद् भ्रूवर्तवर्तिन्यो सिद्ध्योऽष्टौ नृपात्मज ।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः ॥
नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं निधाय यः ।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला ॥
(स्कन्द० काशीखण्ड २४)

(ख) हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत ।
पुत्रमित्रकलत्रार्थराज्यस्वर्गापवर्गदम् ॥
(स्कन्द० काशी० २१ । ५३

चरणोंके अनुरागमात्रसे ही तुरंत समस्त लौकिक तथा बिना ही मरे समस्त पारलौकिक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सुख भी सुलभ हो जाते हैं—

बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत, बिनु तप बिनु तनु त्यागे ।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे ॥
(गीतावली, उत्तरकाण्ड १५)

बिना ही किसी साधन-सम्पत्तिके सच्चे हृदयसे नारायण-चरणाश्रित प्राणीको समस्त पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ।

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये ।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः ॥[६]

ध्रुवका सर्वोत्तम पद श्रीमन्नारायणके श्रीचरणाश्रयका ही परिणाम है । अनन्त बार अपने सिर-सरोजद्वारा शिवाराधनके फलस्वरूप किंचित्कालके लिये जिस सम्पत्तिको रावणने प्राप्त किया, उसे ही लाख नाहीं-नाहीं करते रहनेपर भी नमस्कारमात्रसे श्रीरामभद्रने बड़े संकोचके साथ अत्यन्त न्यून समझते हुए श्रीमद्विभीषणको कल्पपर्यन्तके लिये दिया—

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं । मोर दरसु अमोघ जग माहीं ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा । सुमन बृष्टि नभ भई अपारा ॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शंकरात् ।
दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥
(हनुमन्नाटक)

सुग्रीव भी लाख 'नाहीं' करते रहे—राज्य-परिवार छोड़कर अहर्निश भजनकी बात कहते रह गये; पर उन्हें भी प्रभुने अखण्ड राज्य दे ही दिया—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजनु करौं दिन राती ॥
सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥
सुनि बिराग संजुत कपि बानी । बोले बिहँसि राम धनुपानी ॥
जो कछु कहेहु सत्य सब होई । सखा बचन मम मृषा न होई ॥

इसी प्रकार कर्दम प्रजापतिका दिव्य ऐश्वर्य-भोग, सुदामाका वैभव तथा मौद्गल्य ऋषिका वैभव (ब्रह्मपुराण १३६) एवं भरद्वाज महर्षि आदिद्वारा प्रदर्शित वैभव (रामचरितमानस, अयोध्या०) अन्यान्य साधनोंद्वारा कभी भी सम्भव न थे । तथापि भोगेच्छा अशुद्ध बुद्धिमें ही रह सकती है । जबतक भोगोंके प्रति तनिक भी सरस आकर्षण बना है, तबतक बुद्धिमें शुद्ध सत्त्वका अभाव ही समझना चाहिये; वहाँ शीतलता, शान्ति या व्यवसायात्मिका मति नहीं है । विशुद्ध शान्त मतिमें, भोगेच्छाकी तनिक हलचल, विषय-सम्भोगरूप भीषणाग्निका लेश भी असह्य हो जायगा । फिर विशुद्ध भक्तके हृदयमें तो भोग सर्वथा दीर्घ रोग-जैसे ही बाधक प्रतीत होते हैं—

जे रघुबीर चरन अनुरागे । ते सब भोग रोग सम त्यागे ॥
राम चरन पंकज प्रिय जिनहीं । बिषय भोग बस करैं कि तिनहीं ॥
रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥
तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु ।
मुनि मनसहुँ ते अगम तपहिं लाएउ मनु ॥

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद् यः
कुणपमिव कुनारीं त्यक्तुकामो विरागी ।
विषमिव विषयादीन् मन्यमानो दुरन्तान्
जगति परमहंसो वासुदेवस्य भक्तः[७] ॥

इसलिये ध्रुव, सुदामा, (भरत, जनक) आदि भोगोंमें रहकर भी जलके बीच कमलके समान सर्वथा उनसे निर्लिप्त रहे । वे चम्पकोद्यानस्थ भ्रमरके समान भोगोंसे सर्वथा असंस्पृष्ट रहे । भगवद्दर्शनके उपरान्त इनका विषयोंकी ओर रहा-सहा आकर्षण समाप्त हो गया—

'परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता २ । ५९)

ज्ञेयके अज्ञात रहने तथा परमतत्त्व परब्रह्मके अप्राप्त होनेतक भोगवासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव भी नहीं—

ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते ।
विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा ॥
(योगवा० २ । २ । ९)

जैसे मरुभूमिमें लताकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, वैसे ही तत्त्वके अज्ञात रहते विषयरति नहीं मिटती; विज्ञातज्ञेय

---

६. (क) मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम् ।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥
(महा० शान्तिपर्व ३४८ । ७१)

(ख) यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम् ।
यदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः ॥
(गरुडपु० २२२ । १२)

(ग) आराध्य विधिवद्देवं हरिं सर्वसुखप्रदम् ।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यत् प्रार्थयते फलम् ॥
(गरुडपु० २२९ । ४९)

७—अहेरिव जनाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव कुस्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
(महाभारत)

पुरुषको विषय विषके समान प्रतीत होते हैं[६]। उसे रम्यसे भी रम्य भोगभूमि रञ्चमात्र भी आकृष्ट नहीं कर सकती[७]। हृदयमें काम, क्रोध, मत्सर आदि दोषोंका तभीतक पड़ाव पड़ा रहता है, जबतक वहाँ भगवान्‌का प्रतापरूपी सूर्य उदित नहीं होता—

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। काम क्रोध मत्सर अभिमाना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥
ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥

विभीषण स्वयं कहते हैं कि आपके दर्शनके पहलेतक थोड़ी-सी कुछ वासना रह गयी थी; किंतु अब तो वह आपके पदकमलकी प्रीति-सरितामें बह चुकी—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपालु निज भगति पावनी। देहु दया करि सिव मन भावनी॥

वस्तुतः जबतक विषयोंकी मिथ्या मधुरिमा मनसे नहीं जाती, तबतक शुद्ध सात्त्विकी वैष्णवी भक्तिका तो उदय भी नहीं समझना चाहिये—

तुलसी जब लगि बिषय की मुधा माधुरी मीठि।
तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि॥

अन्य क्षुद्र देवताओंकी भक्तिकी बात चाहे जैसी हो पर हरिभक्तिकी तो यह खास विशेषता है।

विषय-विडम्बना

भगवद्भक्ति, ज्ञान या जप, तप, मौन, व्रत, तीर्थ, देवार्चन, दान आदि किसी भी अनुष्ठानमें विषयासक्ति, भावदोष सर्वसंहारक है—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुरा० ब्रह्म० १६। ९०; श्रीमद्भा० ११। १४। ३०; ११। २६। १३; महा० अनु० ३८। ४०; नारदपु० ७। ८)

मनु भी कहते हैं कि कामादि भावदोषसे दूषित चित्तवालेकी उपासना, यम-नियम, तप, त्याग या स्वाध्याय, कुछ भी सिद्ध नहीं होता—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥
(मनु० २। ९७)

'विप्रदुष्टभावस्य—स्त्र्याद्यासक्तस्य'
(राघवानन्द, गोविन्दराज, मेधातिथि)

अतः काम आदिसे सावधान रहकर ही भगवत्सेवा करनी चाहिये—

सेवहिं तजे अपनपौ चेते।　　　(विनय०)

वासनाकी उत्पत्ति ही इन्द्रिय, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धैर्य, बुद्धि, ह्री, श्री, तेज, स्मृति (शास्त्रज्ञान) तथा सत्यका संहारक है—

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ८)

यस्य—कामस्य

ज्यों ही साधक कामादि दोषोंसे सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है, उसी समय भगवत्प्राप्तिके या भगवान्‌के समान ही ज्ञानादि ऐश्वर्योंके प्राप्त होने योग्य बन जाता है—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ९)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २। ३। १४)

कुन्तीने ऐसे ही मुक्तकाम, आत्मारामोंके विशुद्ध सत्त्वसंयुक्त शान्त हृदयमें भक्तियोगके विधानार्थ भगवदवतारका होना—भगवान्‌के श्रीविग्रहका प्रकट होना बतलाया है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(श्रीमद्भा० १। ८। २०

८—विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥
(योगवासिष्ठ १। २९। १३)

९—(क) कृमिभिः पीड्यमानस्य कुष्ठिनः पामरस्य च।
कण्डूयनाग्नितापेन यत्सुखं स्त्रीषु तद् विदुः॥
(पद्म० भूमि० ६६। ११२)

(ख) यादृशं मन्यते सौख्यं गण्डे पूतिविनिर्गमात्।
तादृशं स्त्रीषु मन्तव्यं नाधिकं तासु विद्यते॥
(शिवपुराण, वायवीयसं० २। ३। २७)

(ग) यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।'
(श्रीमद्भा० ७। ९। ४५)

पूर्ण निष्काम हृदयमें ही भगवान्‌का आवास सम्भव है। कामनाकलुषित चित्तमें भगवान् वैसे ही नहीं रहते जैसे रात्रिमें सूर्य—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं, रवि रजनी एक ठाम॥

आत्माराम-मुनिगणाकर्षित्व भगवान्‌का एक विशिष्ट गुण है। शुकदेवजी आदि ऋषिगण निर्गुणमें परिनिष्ठित होकर भी भगवद्गुणोंसे आक्षिप्त होकर भागवत-अध्ययन-अध्यापनमें प्रवृत्त हो गये—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

योगवासिष्ठकी दृष्टिमें तो अन्तःशीतलता, कामाद्यनुपहतचित्तता ही जीवन्मुक्ति तथा परमपुरुषार्थता है। श्रीमद्भागवतादि अन्य भी सभी शास्त्रोंके अनुसार षड्वर्गसंयमपूर्वक भगवदुपासनामें ही लक्ष्यकी परिपूर्णता है—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥
(श्रीमद्भा० ७। १५। २८)

उपाय क्या?

भोगतृष्णा-शून्यतामें निश्चय ही भगवत्कृपा ही प्रधान हेतु है—

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध निसि सोवत जागा॥
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन ते नहिं हाई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

किंतु सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर भगवच्चर्चामें निरत रहना ही वासना-शून्यताका सर्वोत्तम उपाय है। श्रीमद्भागवतमें इसे बार-बार बतलाया गया है।—आरम्भमें ही सूतजी कहते हैं—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
(१। २। १६)

अर्थात् पुण्यश्रवणकीर्तन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी चर्चा—लीला-कथा सुननेवालोंके हृदयमें बैठकर उनके समस्त कामादि अमङ्गलकर दोषों तथा पापोंको समूल ध्वंस कर देते हैं। इसी ग्रन्थमें आगे चलकर नारदजी श्रीव्यासदेवको बतलाते हैं कि योगशास्त्रके चित्तनिरोधक यम-नियमासनादि साधनसे काम-लोभादि-उपहतचित्त उतना शीघ्र तथा वैसा शान्त नहीं होता, जैसा कि वह हरिचर्चा—हरिचर्याके परिशीलनसे होता है।

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥
यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथात्माद्धा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा० १। ६। ३५-३६)

ऐसी दशामें भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए—

श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं,
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं॥
कानन दूसरौ नाम सुनैं नहिं, एकहि रंग रँग्यौ यह डोरौ।
धोखेहु दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहलु बोरौ॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरौ छाड़ि निहारति गोरौ॥
सरग नरक अपबर्ग समाना। जहँ तह देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मम राउर चेरा। ... ...॥

'श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि।'

—की ही स्थितिमें साधनामें लगे रहना ही इसका सर्वोत्तम उपाय है। और स्वभाव बन जानेपर फिर तो यही सर्वोत्तम सिद्धि भी है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

शूल-फूल

नहीं चाहती याद रखूँ मैं, वरं चाहती जाऊँ भूल।
पर हटता वह नहीं हृदयसे, सदा चुभाता रहता शूल॥
कठिन नुकीला शूल किंतु वह बन जाता तुरंत मृदु फूल।
मुझे सदा असीम सुख देता, काट बहाता दुखका मूल॥

कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम)

[श्रीमाताजीके प्रवचन आधारपर लिखित]

(१)

सृष्टिकी कहानी

चेतना ही सृष्टिका मूल स्रोत और आधार है। यहाँतक कि ऊपरसे अचेतन दिखायी देनेवाली अत्यन्त स्थूल वस्तुके अंदर भी, जैसे पत्थर आदिके अंदर भी, चेतनाका प्रकम्पन विद्यमान है। जहाँपर कोई भी चेतना बिल्कुल है ही नहीं, उसे निश्चेतना कहते हैं। अगर तुम कभी निश्चेतनाके अंदर उतरो, कहनेका तात्पर्य यदि तुम कभी निर्जीव पत्थरसे भी नीचेके स्तरमें जाओ तो तुम इस भेदको समझ जाओगे। पत्थर और निश्चेतनाके बीचकी खाई बड़ी चौड़ी है, बहुत अधिक चौड़ी है। सच पूछो तो पत्थर और मनुष्यके बीच जो खाई है, उससे भी कहीं अधिक चौड़ी वह खाई है। चेतनाकी एक गुप्त धारा है, जो मनुष्यको पत्थरसे जोड़ती है, परंतु पत्थरके परे तो मानो एक अतल गह्वर है, एक ऐसी चीज है जिसपर पुल बनाया ही नहीं जा सकता। निश्चेतना महाशून्य है, नितान्त खालीपन है; वह कोई वस्तुसत्ता पदार्थ नहीं है बल्कि विशुद्ध अभावात्मक स्थिति है। भौतिक विश्वके पीछे चेतना विद्यमान है। यदि वहाँ वह चेतना न होती तो अणु-परमाणुके उपादानरूप भौतिक कणोंके अंदर जो अद्भुत संगठन दिखायी देता है, वह वहाँ कभी न विद्यमान होता। भौतिक सृष्टिसे पूर्व निश्चेतना ही विद्यमान थी।

सृष्टिका मूल है एकमेव अविभाज्य सत्य सत्ता और उसकी विशुद्ध चेतना। इस परात्पर चेतनाने अपने-आपको विषयीभूत करना चाहा, अपने-आपको स्वयं अपने अंदरसे ही निकालना चाहा, खेल करते हुए अपने-आपको देखना चाहा—उपनिषद् कहती है, एकमेवने एक द्वितीयकी, अपने लिये एक साथीकी इच्छा की, 'स द्वितीयमैच्छत्।' अपने-आपको विषयीभूत करनेकी यह शक्ति एक स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है, जो चेतनाको इसलिये दी गयी है कि वह अपनी मूल एकीभूत स्थितिसे बाहर निकल सके, अपनी इच्छाके अनुसार चारों ओर और दूर-दूरतक विचरण कर सके। इस तरह परात्पर भगवान्ने स्वयं अपने-आपको आत्म-अभिव्यक्तिकारिणी अपनी ही शक्तिके रूपमें देखा और वही थी मातृ-चेतना, आद्याशक्ति, अदिति—चिच्छक्ति और फिर यह शक्ति जब अपने सृजनात्मक आवेगके साथ आगे बढ़ी, तब उसने अपने-आपको प्राथमिक चार प्रधान विभूतियोंमें अभिव्यक्त किया (महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती)। परंतु यह स्वतन्त्र प्रवृत्ति, जो कि अपने-आपको पृथक् करने तथा आत्माभिव्यक्ति और विकासकी एक स्वतन्त्र धारामें अग्रसर होनेके लिये स्वाधीन थी, स्वतन्त्र चुनावके अपने स्वभावके प्रायः एक युक्ति-संगत परिणामके रूपमें ही, तुरंत निश्चेतना-रूप अस्वीकृति-की, अभावकी स्थितिमें जा गिरी। अतएव, परात्पर भगवान्के विरुद्ध, भागवत चेतनाके सम्मुख खड़ी हो गयी नितान्त अचेतनता-ज्योति विलीन हो गयी। एकान्त अन्धकारके अंदर। यह था तो चेतनामें विद्यमान आत्म-चुनावका ही परिणाम, पर उसका अन्त हुआ चेतनाकी एकदम विपरीत स्थितिमें।

वह स्थिति एकदम नीरवताकी स्थिति थी, वह मृत्युसे भी अधिक नीरव थी और स्वयं निश्चल-नीरवतासे भी कहीं अधिक मृत थी। और यह स्थिति थी चूड़ान्त निस्सहायता और आशाहीनताकी। ......भागवत चेतना अर्थात् अदिति-ने भवितव्यताकी उस भयावनी धाराको देखा जिसे स्वतन्त्रता-ने अपनाया था और जिसमें वह परिसमाप्त हुई थी; वह इसे जरा भी सह न सकी और साहाय्य प्राप्त करनेके लिये उसके अंदरसे एक चीख निकल पड़ी। और तुरंत ही उसका उत्तर भी आया, एकमेव परमा चेतनासे एक किरण फूट निकली और निश्चेतनाके गर्भमें पैठ गयी। बस, एक महान् चमत्कार घटित हो गया, जड-तत्त्व उत्पन्न हो गया, प्रथम सृष्टि दृष्टिगोचर हो गयी, सर्वोच्च कृपा-शक्तिकी प्रथम अभिव्यक्ति सिद्ध हो गयी। जड-तत्त्वके अंदर चेतनाकी चिनगारी मौजूद है जो वर्द्धित होगी और अपनेको विकसित करेगी। निश्चेतनाके ढकनेवाले तमके अंदर अधिकाधिक चमकेगी, निश्चेतनाको क्रमशः आलोकित करती जायगी तथा उसकी सीमाओंको निरन्तर पीछेकी ओर और दूर-दूरतक ठेलती जायगी।

जड-तत्त्वके जन्मके साथ-ही-साथ परात्पर चेतनाका एक दूसरा अवतरण भी घटित हुआ; वह है विभिन्न स्तरोंकी क्रमपरम्परा जो उच्चतमको निम्नतमके साथ मध्यवर्त्ती रचनाओं-के द्वारा जोड़ती है; वे स्तर जडतत्त्वके अंदर बीज-रूपमें निहित हैं जिसमें कि जड-तत्त्व उन्हें धारण कर सके और धीरे-धीरे अपनी अन्तर्निहित विकसनशील चेतनाके द्वारा तबतक उन्हें अभिव्यक्त करता रहे जबतक कि उच्चतम वैसे ही यहाँ प्रकट और मूर्तिमान् नहीं हो जाता, जैसे कि वह उच्चतम शिखरपर सर्वदा ही स्व-प्रकाशित रहता है।

क्रमवार अवतरण होनेपर, विभिन्न लोकों और स्तरोंकी क्रमपरम्परा प्रकट होनेपर, प्रत्येक क्षेत्रके अनुरूप नाना प्रकारकी शक्तियाँ और सत्ताएँ भी प्रकट हो गयीं। सबसे पहले, उनमें सबसे प्रथम हैं असुर, बल्कि यों कहें कि आदि-असुर—सबसे पहली चार शक्तियाँ (इनकी कुछ स्मृति हमें क्रोनोस (Chronos) और उसके वंशके रूपमें यूनानी पुराणोंमें विद्यमान प्रतीत होती है)। ये विभाजनकी, निश्चेतनाकी शक्तियोंके मूर्त्त रूप हैं; ये नकारात्मक स्थिति-को प्रस्थापित करनेवाली शक्तियाँ हैं। इन असुरोंके विरुद्ध, विभाजनकी प्रथम पंक्तिके सम्मुख, ज्योतिके अवतरणके एक पक्षमें आ खड़े हो गये आदि-देवगण, भागवत चेतनाकी प्रमुख शक्तियाँ और व्यक्ति-सत्ताएँ। तबसे सर्वदा ही देवताओं और राक्षसोंके बीच पृथ्वीपर अधिकार जमानेके लिये संग्राम चल रहा है। एक दिन इस संग्रामका अन्त अवश्य होगा। इसका अर्थ होगा निषेधात्मक शक्तियोंका विलयन, कम-से-कम पार्थिव राज्यके अंदर, तथा पृथ्वीपर ज्योतिके राज्यकी प्रतिष्ठा।

पृथ्वी एक रूपक है

पृथ्वी इस स्थूल जगत्का केन्द्र है। इसकी सृष्टि उस शक्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये हुई है जिसका काम है जड-तत्त्वको रूपान्तरित करना। यह जड-तत्त्वमें निहित दिव्यशक्तिको सूचित करनेवाला एक रूपक है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। पृथ्वीका सृजन हुआ था भागवत चेतनाके साक्षात् हस्तक्षेपके द्वारा। एकमात्र पृथ्वीपर ही भगवान्के साथ सीधा सम्पर्क रहता है और प्राप्त हो सकता है। पृथ्वी दिव्य ज्योतिको आहरण करती, विकसित करती तथा विकीर्ण करती है। ज्योतिकी ये किरणें देशके अंदर फैल जाती हैं और जहाँ-जहाँ जड-तत्त्व होता है वहाँ-वहाँतक चली जाती हैं। यह स्थूल विश्व, कुछ हदतक, उस दानमें भागवत चेतनाके प्रकाश और सामञ्जस्यमें हिस्सा बँटाता है जिसे यह पृथ्वी ले आती है। परंतु केवल पृथ्वीपर ही उस चेतनाका पूर्ण और अन्तिम विकास साधित होता है।

चैत्य पुरुष* महज इस पृथ्वीपर ही पाया जाता है, क्योंकि यह इस धरित्रीकी ही एक उपज है। यह जड-तत्त्वके ऊपर भगवान्का ही स्पर्श है। चैत्य पुरुष पृथिवी-माताका एक बालक है। यह धराधामपर उत्पन्न होता और बड़ा होता है, यह अन्य किसी स्थानका रहनेवाला नहीं है। फिर भी जब यह पर्याप्त मात्रामें विकसित हो जाता है और एक वयस्क व्यक्तित्व बन जाता है, तब यह अन्यान्य भौतिक क्षेत्रोंमें जा सकता है, उदाहरणार्थ अन्य ग्रहोंमें भी घूम सकता है।

शरीर गुह्यक्रियाका एक माध्यम है

शरीरका भी अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है। यह एक सुसंगठित रचना है और अपने प्रत्येक और सभी अङ्गों-में एक पूर्ण सत्ताके रूपमें कार्य करता है। मानव-शरीर विशेष-रूपसे एक ऐसी ही रचना है; क्योंकि यह उस चेतनाके द्वारा चालित और शासित होता है जो इसपर छायी रहती है अथवा जो इसका गठन करती है, जो इसकी मालकिन होती है और जिसकी इच्छाको ही यह बड़ी सावधानीसे कार्यान्वित करती है।

शरीर इस जगत्का एक संक्षिप्त रूप है। यह अपने ढाँचे-के अंदर समूचे जगत्को, विशेषकर पृथ्वीको लिये हुए है,—पृथ्वी स्वयं भी सारे विश्वका एक संक्षिप्त आकार है—एक छोटे-से परिमाणके अंदर, पिंड ब्रह्माण्डके सभी आकारों और स्वभावोंको प्रकट कर रहा है।

ऐसी बात होनेके कारण एक पूर्णतः सचेतन शरीर, जो परात्पर भागवत चेतनाद्वारा संचालित और अनुप्रेरित होता है, विश्वव्यापी ताल-छंदके अंदर निवास करता और चलता-फिरता है। वह अपने अंदर जगत्की सभी घटनाओंका केवल लेखा ही नहीं उतार लेता, बल्कि अपनी व्यक्तिगत गतिविधि-के द्वारा उन घटनाओंको अधिकृत करने तथा यहाँतक कि

* चैत्य पुरुष श्रीअरविन्दकी योग-साधनाका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसके स्वरूप और कार्यका विवेचन अन्य किसी साधनामें इतने स्पष्ट रूपमें नहीं किया गया है। इसके विषयमें श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजीके विचार किसी अन्य मौकेपर 'कल्याण' के पाठकोंके सामने रखे जायँगे। —अनुवादक

उन्हें परिवर्तित कर देनेकी एक सक्रिय शक्ति भी रखता है। हम पृथ्वीके एक प्रकारके नक्शे या चार्टके रूपमें शरीरकी कल्पना कर सकते हैं। पृथ्वीपरका प्रत्येक बिंदु एक विशिष्ट बिन्दुके द्वारा—उदाहरणार्थ, कोषोंके एक विशेष दलके द्वारा—शरीरके अंदर परिलक्षित होता है। यदि शरीरपर शासन करनेवाली चेतना उस बिन्दुपर एकाग्र हो और वहाँ एक परिवर्तन ले आये तो पृथ्वीका जो भाग और जो अवस्थाएँ उससे सम्बन्धित हैं, उनमें अपने-आप एक बड़ी मात्रामें वैसा ही परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार बिना कहीं बाहर गये और इधर-उधर घूमे, साक्षात् वस्तुओंको जाननेके लिये ठीक घटनास्थलपर बिना मौजूद रहे, अपने कमरेमें बैठे-बैठे, अपने शरीरके एक कोनेमें मानो कोई चाभी घुमाकर ही मनुष्य पृथ्वीके एक विशिष्ट क्षेत्रमें घटनाओंकी एक लंबी धाराको गतिशील बना सकता है। अपने शरीरके अंदर कुछ थोड़े-से कोषोंमें ज्ञानपूर्वक कुछ हेर-फेर लाकर तुम जागतिक परिस्थिति-में अपनी इच्छाके अनुसार परिवर्तन ला सकते हो। इस तरह हम कह सकते हैं कि पृथ्वीपर घटनेवाली घटनाओंकी दृष्टिसे हमारा शरीर चेतनाके लिये वह कमरा है जहाँसे सारी बातोंको संचालित किया जा सकता है। अवश्य ही चाहे कोई भी शरीर ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जो शरीर ऐसा करनेके लिये निर्दिष्ट है और इस कार्यकी शिक्षा पा चुका है केवल वही ऐसा कर सकता है।

इस तरीकेसे हमारा शरीर पृथ्वीपर शक्तिशाली परिवर्तन ले आने तथा सृजन करनेका एक साधन, एक यन्त्र बन जाता है। शरीरकी गुह्य शक्तिकी यह कल्पना ही प्राचीन युगके मानव-समाजमें विशेषरूपसे प्रचलित बलिदानकी प्रथा या व्यवस्थाके मूलमें विद्यमान थी। यूनान देशमें इफिजीनिया (Iphigenia) को देवताओंका क्रोध शान्त करने तथा यूनानियोंको विजय दिलानेके लिये बलि चढ़ा दिया गया था। कभी-कभी मानव-बलिके बदले किसी पशुकी बलि भी चढ़ायी जाती थी और उससे उसी रूपमें और वही उद्देश्य सिद्ध होता था। और एक उच्चतर अर्थमें—निःसंदेह सबसे ऊँचे अर्थमें—किसी शरीरकी बलि ऐसे ढंगसे—सम्पूर्ण और सर्वाङ्गीणरूपमें—चढ़ायी जा सकती है जिसमें कि भौतिक जगत्में उसीके अनुरूप एक सर्वाङ्गीण उलट-फेर या पुनःसंगठन स्थापित हो जाय। जो मनुष्य अपने-आपको यज्ञ-कुण्डमें हवन कर देता है,—भगवान्‌की बलि-वेदीपर अपने-आपको भस्म कर देता है—अपने लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखता, एकमात्र भगवान्‌के लिये ही जीवन धारण करता है, वह अपने अंदर भागवत संकल्पको उतारकर समूची पृथ्वीके जीवनमें एक भागवत उपस्थित और रूपान्तरको उतार लाता है। पूर्ण भौतिक बलिदानके फलस्वरूप अनिवार्यतः भौतिक जगत्में भगवान् सम्पूर्णरूपमें अभिव्यक्त और मूर्तिमान् होते हैं। (क्रमशः)

आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर शान्तिका समुद्र लहरा रहा है

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर उस शान्तिका स्रोत विद्यमान है, जिसे बाहरका कोई झंझावात स्पर्श नहीं कर सकता। इस आन्तरिक शान्तिका उपभोग करनेसे मुझे अब कोई अवस्था अथवा व्यक्ति रोक नहीं सकता।

अब किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके द्वारा संत्रस्त होनेका अवसर आनेपर उससे दूर भागकर उसे अपने ऊपर और अधिक हावी होने देनेके बदले शान्त चित्त हो अपने अन्तरमें नित्य विराजमान सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌की कृपा एवं सामर्थ्यका विचार करता हूँ और तत्काल अपनेको पूर्ण निरापद पाता हूँ। अब जीवनमें जब कोई ऐसा परिवर्तन आ उपस्थित होता है, जो अपनी समझसे प्रतिकूल बोध होता है, तब उसके लिये चिन्ताग्रस्त होने, हाथ-पैर पटकने एवं उसका विरोध करनेकी अपेक्षा उस परिवर्तनके पीछे अपने प्रभुका प्रेमभरा संकेत अनुभव करता हूँ और तत्काल प्रसन्नवदन उस परिवर्तनको सिर चढ़ा लेता हूँ।

आनन्द और शान्तिका आस्वादन करनेके लिये मुझे अब अपनी परिस्थितियोंके बदले जानेकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती; अब मैं विषमताओंके बीचमें ही अपने भीतर महान् अखण्ड सुखका साम्राज्य प्राप्त करनेमें समर्थ हूँ।

आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर शान्तिका समुद्र लहरा रहा है।

मधुर

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

किसी भगवत्प्रेमी महात्माके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, गुण, महत्त्व, रहस्य आदिकी कथा सुननेसे जब सांसारिक भोग-सुख-वासनाका मोह नष्ट हो जाता है तथा इस मोहका नाश होते ही भगवान्‌में दृढ़ अनुराग होता है, तब ध्यानमें, स्वप्नमें प्रत्यक्षवत् अथवा भगवत्कृपासे किसी प्रकार प्रत्यक्षमें भगवान्‌की मधुर झाँकी होती है। फिर तो उसका जीवन उन प्रियतम प्रभुके ही समर्पण हो जाता है और उसके जीवनका प्रत्येक पल परम प्रेमास्पद एकमात्र प्रभुके ही चिन्तन, स्मरण, कथनमें ही व्यतीत होता है। उसे प्रियतम प्रभुके मधुरतम स्वरूपकी अनवरत स्मृति बनी रहती है और वह सब कुछ भूलकर केवल उन्हींके मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षासे व्याकुल रहता है। मिलनकी आकाङ्क्षामें जो तीव्र विरह-वेदना होती है, उसमें उनकी स्मृतिजन्य महान् मधुरता भरी रहती है, इसलिये वह उस स्थितिमें भी परमानन्दका अनुभव करता है।

श्रीराधारानीकी प्रेमानुकरणपरायण, एवं प्रेमके उच्चस्तरपर आरूढ़ भाग्यवती एक गोपाङ्गना अपनी प्यारी सखीसे कहती है—

जब तें मैं देखे मनमोहन
ठाढ़े रबितनया के तीर।
तब तें कल न परत पल भर मोहि,
मन अति बिकल, धरत नहिं धीर ॥
नैननि झरत सलिल निसि बासर,
नींद नेकु नहिं आवत रात।
बिरमत मन न कितहुँ छिन एकहु,
घर आँगन बन कछु न सुहात ॥

सखी ! जिस क्षण मैंने श्रीयमुनाजीके तीरपर मनमोहन श्यामसुन्दरको खड़े देखा था, उसी क्षणसे एक पल भी मुझे चैन नहीं पड़ रहा है। मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, कभी धैर्य धारण करता ही नहीं। नेत्रोंसे प्रेमाश्रुजल रात-दिन झरता रहता है, रात्रिको जरा भी नींद नहीं आती। मन एक क्षणके लिये भी कहीं भी नहीं लगता। घर, आँगन, वन कुछ भी नहीं सुहाता।

अहा ! कैसा अनुपम स्वरूप-सौन्दर्य था उनका—

अधर मधुर मृदु हास, सरद ससि
लजत बदन-बिधु अनुपम देख।
बिधि रचना अतीत, अतुलित
अतिसय रसमय सुषमा अवरेख ॥
बिकट भ्रकुटि, कटि पीत बसन,
सिर मुकुट-मोर, कल कुंचित केस।
झलमलात स्रुति कुंडल द्युति
दमकत कपोल, सुचि नटवर बेस ॥
मधुर दृष्टि मानो बरछी-सी
करि घायल पियूख भरती।
घाव हरो ही रहत नित्य
मधु तीखी कसक मोद करती ॥

मधुर अधरपर मृदु हास है, अनुपम मुख-चन्द्रको देखकर शरद्-पूर्णिमाके चन्द्र लज्जित हैं। ब्रह्माकी रचनासे अतीत अतुलनीय आत्यन्तिक रसमयी शोभा है। टेढ़ी भ्रकुटी है, कटिमें पीत वस्त्र हैं, सिरपर मयूर-मुकुट है, सुन्दर घुँघराले केश हैं। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं, जिनकी द्युति कपोलोंपर दमक रही है। पवित्र नटवर-वेष है, दृष्टि मानो बर्छीके सदृश घायल कर देती है, पर घायल करके अमृत भर देती है, इससे वह घाव सदा हरा ही रहता है और उसकी तीक्ष्ण मधुर कसक सदा आनन्द प्रदान करती रहती है।

मेरी क्या दशा हो रही है, सखी, सुनो—

परसन कौं अँग अंग बिसूरत,
तिलमिलात मन होत अधीर।
तड़फड़ात ये प्रान नित्य,
ढूँढ़त उड़ि मिलिबे की तदबीर ॥
देखन कौं पुनि सुखद स्याम-
घन बने पपीहा हैं ये नैन।
पल-पल पीउ रटत, न हटत मन,
बिकल सुनन कौं मधुरे बैन ॥

मेरा एक-एक अङ्ग उसका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये

बिसूर रहा है। मन तिलमिलाता और अधीर हो रहा है। प्राण निरन्तर तड़प रहे हैं और उड़कर तुरंत ही जा मिलनेका उपाय ढूँढ रहे हैं। ये मेरे नेत्र उन सुखद श्याम-घनको देखनेके लिये पपीहा बने हैं और प्रतिपल 'पिउ-पिउ' की रट लगाये हैं। मन हट नहीं रहा है। मधुर वचन सुननेके लिये प्राण व्याकुल हैं।

वह सखीसे अनुरोध करती है—

सखि ! तुम जतन करौ काहू बिधि,
दरसन करि पावउँ चितचोर।
प्रान रहैं, मन नाचि उठै, भरि
मोद नचत जिमि घन लखि मोर॥

सखी ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे किसी भी प्रकार मैं उस चित्तचोरके दर्शन कर पाऊँ। दर्शन होनेपर ही मेरे प्राण रहेंगे और तब मेरा मन उसी प्रकार आनन्दमें भरकर नाच उठेगा, जैसे मेघको देखकर मोर मोदमें भरकर नाच उठता है।

कोई परम भाग्यवान् जन ही भोग-जगत्‌की परम विस्मृतिसे युक्त भगवत्स्वरूपकी नित्य अनुभूतिके इस उच्चतम सौभाग्य-स्तरपर पहुँच पाता है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी)

श्रीरामचरितमानसमें यत्र-तत्र परम पावन श्रीरामभक्तोंका पारस्परिक सत्सङ्ग दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकारका पारस्परिक सत्सङ्ग मानसमें जहाँ भी है, वहाँ जीवोंके कल्याणकी दिव्य सरिताएँ उमड़ चली हैं। भक्तजन उन सरिताओंमें प्रमुदित होकर श्रद्धापूर्वक निमज्जन करते हैं। मज्जन ही नहीं करते, उन सरिताओंकी सुरम्य-लहरोंका परिगणन करते हुए उनकी परमपुनीत धाराओंमें प्रवाहित हो जाते हैं और दिव्य भँवरमें चकित होकर डुबकियाँ लगाने लगते हैं। इस प्रकारकी नदियाँ, संतशिरोमणि विश्ववन्द्य श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी परमपावनी, भावमयी लेखनीसे यत्र-तत्र आविर्भूत हैं। आइये, इन्हीं नदियोंमेंसे एक सुदिव्य सुसरितमें भलीभाँति मज्जन करके कृतकृत्य होनेका सौभाग्य लाभ करें।

नदियोंकी सुषमा तरङ्गान्वित होनेमें है। तरङ्गोंके बिना नदियाँ शून्य हैं। श्रीभरतके अमल, अनुपम, अलौकिक, पावन चरित्र-पाथसे परिपूर्ण इस प्रस्तुत सरिताका उद्गमस्थल महर्षि श्रीभरद्वाजका गम्भीर हृदय ही है। इस श्रीभरतकीर्ति-सरित्‌में सात पवित्र लहरें हैं। प्रत्येक लहर श्रीभरतके अनुपम और उत्कृष्ट चरित्रको द्योतित करती है। प्रत्येक वीचि 'भरत' शब्दसे तरङ्गायमान होती है। उन वीचियोंकी तालिका इस प्रकार है—

१—सुनहु भरत हम सब सुधि पाई''' रामहि होत सुनत संतोषू।
२—अब अति कीन्हेहु भरत भरू''' दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता।
३—सुनहु भरत रघुबर मन माहीं''' प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।
४—तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
५—तुम्ह कहँ भरत कलंक यह''' डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ।
६—सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं''' सहित पयाग सुभाग हमारा।
७—भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।

इन सप्तवीचियोंके वर्ण्य विषयका ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञानसे विरहित होनेपर मज्जनानन्द अपूर्ण रहेगा। वर्ण्य विषयकी तालिकापर ध्यान दें:—

प्रथम तरङ्गमें—श्रीभरतको सान्त्वना देते हुए उन्हें तथा महारानी कैकेयीको दोषविरहित बताया गया है।

द्वितीय तरङ्गमें—श्रीभरतके भूरिभाग्यकी प्रशंसा की गयी है।

तृतीय तरङ्गमें—श्रीभरतके श्रीराम-स्नेहका प्राकट्य है।

चतुर्थ तरङ्गमें—श्रीभरतके वास्तविक स्वरूपका वर्णन है।

पञ्चम तरङ्गमें—श्रीभरतके आचरणोपदेश एवं उनके कीर्ति-विधुका निरूपण है तथा उनके महापुरुषत्वकी व्याख्या है।

षष्ठ तरङ्गमें—श्रीभरतको श्रीरामभक्ति-रस-प्रदाता कहा गया है।

सप्तम लहरमें—श्रीभरतको अखिल विश्वके हृदय-साम्राज्यका सम्राट् कहा गया है।

भावमय भैया श्रीभरतलालको साष्टाङ्ग दण्ड-प्रणाम करते देखकर मुनिश्रेष्ठ श्रीभरद्वाजने अपने पुराकृत सुकर्मोंका—भाग्यका महान् उदय समझा—वे अपनेको महाभाग्यवान् समझने लगे। अपने भाग्यकी रक्षा प्रयत्नसे कौन नहीं करेगा!

मुनिराजने भी अवनितलपर विकीर्ण अपने मूर्तिमान् भाग्यको दौड़कर उठा लिया, हृदयमें धारण कर लिया—श्रीभरतलालको हृदयसे लगा लिया। महामुनिने श्रीभरतलालको अपने मङ्गलमय आशीर्वादात्मक वचनोंसे कृतकृत्य कर स्वयं अपनेको तथा अपनी वाणीको भी कृतार्थ कर लिया। अपने भाग्यको कौन सुप्रतिष्ठित न करेगा ? मुनिने भी पवित्र आसन प्रदान किया। मुनिद्वारा प्रदत्त आसनको स्वीकृत करके नम्र-मस्तक होकर बैठ गये श्रीभरतलाल। वे संकुचित हैं। उनके हृदयको मुनिके कुशल-प्रश्नोत्तरकी चिन्ता व्यथित कर रही है। वे सोचते हैं—यदि मुनिने पूज्य पितृदेवके विषयमें कुशल-प्रश्न किया तो मैं किस प्रकार अभिव्यक्त करूँगा, उनके दुःखद अवसानको। यदि ये श्रीरामसम्बन्धी कुशल-प्रश्न करेंगे तो मैं किस प्रकार यह उत्तर दे पाऊँगा—'गे बन राम लखन बैदेही।' मुनिके किसी भी प्रश्नका समुचित उत्तर मेरे पास नहीं है। इस प्रकार श्रीभरतके शील एवं संकोचको देखकर अन्तःपारखी महामुनि श्रीभरतके संकोचका निवारण करते हुए स्वयं बोल पड़े।

मुनिवरके परम पावन गम्भीर हृदयरूपी सुन्दर पर्वतसे श्रीभरतचरित्रकी कलकल निनादिनी निर्झरिणीकी दिव्यातिदिव्य धारा बह चली। उस मनोहारिणी सरितामें पूर्ववर्णित मनोहारिणी सप्त वीचियोंका प्रादुर्भाव हो गया। आइये, उन लहरोंका आनन्द लेते हुए हम भी अपने हृदय, नेत्र और वाणीको कृतकृत्य करें।

प्रथम तरङ्ग—

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥
तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति॥
यहहु कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक बेद बुध संमत दोऊ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई॥
लोक बेद संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥
राउ सत्य ब्रत तुम्हहि बोलाई। देत राज सुख धरमु बड़ाई॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहुँ पछितानी॥
तहँउ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू॥
करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥

श्रीभरतलाल ! आपके आगमनके पूर्व ही मैं सम्पूर्ण वृत्तोंसे अवगत हो चुका हूँ, परंतु भैया ! विधिकर्तव्यपर किसीका वश नहीं है। आप अपने हृदयमें माँकी कुचालिके कारण चिन्तित न हों। यदि स्वतन्त्र माँका कर्तव्य होता तो सोचनेकी बात भी थी, किंतु यहाँ तो 'गई गिरा मति धूति।' परंतु इस प्रकारका कथन भी अप्रशंसित ही होगा; क्योंकि लोक और वेदमें दोनों मार्ग बुधसम्मत हैं। हे वत्स ! तुम्हारे यशका मधुर गान करके वे बुधसम्मत लोक और वेद दोनों महत्त्वभाजन होंगे। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, लोक-वेदसे भी सम्मत है कि 'जेहिं पितु देइ राज सो लइई।' यदि श्रीकैकेयीने केवल आपके राज्यकी ही कामना की होती तो सत्यप्रतिज्ञ श्रीदशरथराज आपको बुलाकर राज्य प्रदान करते तथा साथ ही सुख, धर्म और बड़ाई भी देते। परंतु द्वितीय वर-याचना अनर्थकारिणी हो गयी। श्रीरामका वनगमन, श्रीदशरथ-मरण आदि समस्त अनर्थोंका मूलभूत कारण बन गया। इन अनर्थों एवं श्रीरामवनगमनको विश्वमें जिसने सुना, उसीको महान् कष्ट हुआ। श्रीकैकेयीने भी श्रीरामवन-वास-सदृश जघन्य कृत्य करके अन्तमें पश्चात्ताप ही किया। उनके हृदयमें वनगमनके पूर्व भी श्रीरामप्रेम विद्यमान था और अन्तमें भी। मध्यमें भावीवश विकृतमस्तिष्क हो गयीं। फिर भी सत्सङ्गविहीन प्राणी माँको दोष दे सकते हैं; किंतु आपका स्वल्पापराध भी कहनेवाला व्यक्ति अधम, अज्ञानी और असंतकी उपाधि धारण करनेवाला होगा। यदि आप पिता-प्रदत्त राज्यसुखका भी उपभोग करते तो भी अनुचित न होता, आपके उस कार्यको श्रवण करके श्रीरामकी तो अभिलाषा ही पूर्ण होती है। महाप्रभुकी तो अभिलाषा ही थी 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।' अभिलाषा-पूर्तिमें सभी संतुष्ट होते हैं। प्रभु भी आपके राज्य स्वीकार करनेके शुभसंवादका श्रवण करके परम संतुष्ट होते।

द्वितीय तरङ्ग—

अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धन जीवन प्राना। भूरि भाग को तुम्हहि समाना॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥

हे लोकोपकारी ! यदि आप पिता-प्रदत्त राज्य-सुखका उपभोग करते तो भी अनुचित न होता, और अब तो आपका कार्य, आपके द्वारा आचरित आचरण सब प्रकारसे सुप्रशंसित है। पिता-प्रदत्त राज्य-सुखका परित्याग करके, कंद-मूल-फलका सेवन करते हुए श्रीराम-चरणोंका सांनिध्य प्राप्त करनेके हेतु वनमें जाना—यह कार्य श्रीरामचरणोंके पवित्र स्नेहका द्योतक है। आपका यह कार्य समस्त संसारमें एक नूतन मङ्गलकी सृष्टि करेगा; क्योंकि संसारके समस्त मङ्गलोंका

उत्पादक श्रीरामचरणानुराग ही है। वह प्रभुचरणानुराग ही आपका धन, जीवन और प्राण है। श्रीरामचरणानुराग ही जिसका जीवन हो, उस महाभागके महाभाग्यकी प्रशंसा करनेमें कौन वाणी किंवा लेखनी समर्थ है? किंतु वत्स! श्रीदशरथपुत्र एवं श्रीराम-बन्धुके लिये इस भूरिभाग्यकी प्राप्तिमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

तृतीय तरङ्ग—

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं।
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत कुटुंबपाल रघुराई॥

हे महाभाग! परम कारुणिक, भक्तवत्सल, रघुश्रेष्ठ श्रीरामके मनमें आपके सदृश प्रेमपात्र कोई नहीं है। केवल श्रीराम ही नहीं, श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजीकी भी सारी रात्रि आपकी प्रशंसामें ही व्यतीत हो गयी। वह प्रशंसा अत्यन्त प्रीतिसंयुक्त थी। सम्पूर्ण रात्रि आपकी सराहनामें व्यस्त श्रीराम प्रातःकाल स्नानके अवसरपर श्रीयमुनाकी पवित्र श्यामल धाराका अवलोकन करके आपके पवित्र प्रेममें मग्न हो गये थे। उस समय मैंने ऐसा अनुमान किया कि आपके ऊपर महाप्रभुका उसी प्रकार स्नेह है जिस प्रकार जड पुरुषकी आसक्ति सांसारिक सुख-जीवनपर होती है। जिस प्रकार सांसारिक सुखाभिलाषी जीव संसारमें सर्वत्र अपने सुखको ही निहारा करता है, उसी प्रकार भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र अहर्निश आपकी ही चर्चा करते हैं, आपका ही स्मरण करते हैं, और आपके कल्याणकी ही सतत कामना करते हैं। धन्य है! बलिहारी है महाप्रभुके प्रेमी-प्रेमको! किंतु महाप्रभुकी यह विशेष प्रशंसा नहीं है; क्योंकि वे तो प्रणतमात्रके समस्त कुटुम्बका पालन करनेवाले हैं।

चतुर्थ तरङ्ग—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

महर्षिने श्रीभरत-स्वरूपका कितना सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं, कोई आपको कुछ समझे, परंतु मेरी सम्मतिसे तो आप मूर्तिमान् श्रीरामप्रेम हो। प्रेमके द्वारा प्रभुप्राप्ति सुलभ है, उसी तरह आपके द्वारा भी प्रभुप्राप्ति सुगम है।

पञ्चम तरङ्ग—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेस।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस॥

नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥
भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी॥
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥

जासु सनेह सँकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम पेम मृग रूपा॥

हे मूर्तिमान् श्रीरामप्रेम! आपके लिये यह राज्य-त्याग आदि कार्य कलङ्कवत् प्रतीत हो रहा है; क्योंकि इसमें आपको वाक्य-विरोध करना पड़ा है, परंतु हम तपस्वियोंके लिये यह आपका कलङ्क—राज्यत्याग ही उपदेश है। श्रीरामभक्ति-रस-सिद्धिके लिये तो यह समय ही श्रीगणेश हुआ है। कोई क्रिया रसवती तभी होती है जब उस क्रियाके सहायक विषयोंका अवलम्बन करके उसके विरोधी विषयोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय। श्रीरामभक्तिके बाधकगण ये हैं—'सुख संपति परिवार बड़ाई।' आज सुखादि सर्वसाधन-सम्पन्न होनेपर भी आपने उसका परित्याग कर दिया है। अतः आपके द्वारा आज इस युगमें 'रामभक्ति-रससिद्धि'का आरम्भ हुआ है।

हे वत्स! आपका सुयश अभिनव, अमल चन्द्रमा है। उस कीर्ति-चन्द्रसे आनन्द प्राप्त करनेवाले श्रीरामभक्त ही कुमुद और चकोर हैं। चन्द्रकी चन्द्रिकासे सम्पूर्ण जगत् प्रमुदित हो जाता है। चन्द्रकी शीतलता ब्राह्मण, चाण्डाल, प्रवृत्तिमार्गावलम्बी एवं निवृत्तिमार्गावलम्बी आदि सभीके लिये सुखप्रद है। उसी प्रकार आपका निर्मल, नवीन यश-चन्द्र प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय मार्गावलम्बियोंके लिये 'राम-भगति-रससिद्धि' प्रदान करनेमें समर्थ है। प्राकृत चन्द्रकी भाँति आपके नूतन विमल कीर्ति-विधुमें निम्नाङ्कित दूषण नहीं हैं—

(क) अस्त होना।
(ख) घटना।

(ग) केवल आकाशमें ही रहना।
(घ) चकवेका दुःख प्रदान करना।
(च) सूर्यके द्वारा छविरहित होना।
(छ) रात-दिन सबको सुख न होना।
(ज) राहुके द्वारा ग्रसित होना।
(झ) पूर्ण अमृत न होना।
(ट) गुरुतियगामित्वके कलङ्कसे संयुक्त।
(ठ) मृत्युलोकवासियोंके लिये अमृतकी दुर्लभता।

इन दोषोंके विपरीत भरत-कीर्ति-चन्द्र—

(क) श्रीभरत-यशश्चन्द्र निरन्तर समुदित रहेगा।
(ख) दिनोंदिन वृद्धिंगत होगा।
(ग) सम्पूर्ण जगत्‌में दृश्यमान होगा।
(घ) चकवेकी तो बात ही क्या है, त्रैलोक्य अत्यन्त स्नेह करेगा।
(च) श्रीरामप्रताप-दिवाकरके द्वारा त्रिकालमें प्रकाशित रहेगा।
(छ) तीनों कालोंमें विश्वको सुखप्रद होगा।
(ज) माताका कर्तव्यरूप राहु इस चाँदको ग्रसनेमें असमर्थ रहेगा।

जो पामर अपनी जड़ताईं। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाईं॥
सो सठ कोटिक पुरुष समेता। बसिहिं कलप सत नरक निकेता॥

(झ) इस श्रीभरत-कीर्ति-चन्द्रमें श्रीराम-प्रेमामृत परिपूर्ण है—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।

(ट) प्राकृत चन्द्रके विपरीत इस चन्द्रमें गुरु-प्रेम विद्यमान है—

राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरत कर भागू॥

—यह उक्ति महाप्रभु श्रीराघवकी है। श्रीगुरुदेवने स्वयं भी कहा है—

भरत भगति बस भइ मति भोरी।

(ठ) सम्पूर्ण वसुंधरामें राम-भक्तिकी अविरल धारा प्रवाहित हो गयी।

मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।

किसी व्यक्तिका व्यक्तित्व उसके कुलपर भी निर्भर है। श्रेष्ठ कुलमें श्रेष्ठ व्यक्ति ही समुत्पन्न होते हैं। इस दृष्टिसे भी श्रीभरतलालके महत्त्वकी ओर एक भावपूर्ण दृष्टि डालें।

जिनकी परम विमल तरङ्गावलीके दर्शनसे ही मनुष्य अखिल कल्याणकी सम्प्राप्ति करता है, ऐसी परम पुनीता, पुण्य-सलिला भगवती सुरसरिताका इस भूतलपर अवतरण करानेका श्रेय राजर्षि भगीरथको ही है। ये राजर्षि पवित्र भानुकुलमें समुत्पन्न हुए थे। जिस कार्य-कारणातीत ब्रह्मको भगवान् देवाधिदेव श्रीमहादेवने अपने हृदयके विकसित विलोचनोंसे जी भरकर कदापि नहीं देखा, वही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्दर्शी, सर्वान्तर्यामी जिन महाराजके केवल प्रेम-संकोचके वशीभूत होकर श्रीरामस्वरूपमें मूर्त हुआ, उन महाभाग्यवान्, चक्रवर्ती दशरथजीकी गुणावलियोंका विस्तृत एवं पूर्ण वर्णन करनेके सौभाग्यसे महाकवियोंकी लेखनी आजतक वञ्चित है। उनसे महत्त्वपूर्ण कोई व्यक्ति है या नहीं—इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये प्रथम उनके समानकी खोज हुई; किंतु उत्तर मिला—

अधिक कहाँ जेहि सम जग नाहीं॥

सत्यता तो यह है कि कौन हो सकता है उनसे विशेषतर महिमामय। महिमा भी सीमाबद्ध हो जाती है जब अजन्मा अपना 'परिचय' इन शब्दोंमें देता है—'कोसलेस दसरथ के जाए।' कितने भाग्यवान् हैं ये श्रीअवधनरेश! इनकी परम पवित्र गोदका आश्रय ग्रहण करनेके लिये उस निरीह, निर्लेप, निरञ्जन, विगत-विनोद 'ब्रह्मका' भी मन मचल पड़ता है। धन्य है! ये महाभाग श्रीदशरथ भी रविकुलवंशसमुद्भव हैं। उसी 'परम पवित्र' वंशमें आप भी समुत्पन्न हैं। हे रघुपुङ्गव श्रीभरतलाल! आपने तो अनुपम, अमल, धवल, अभिनव सुयश-सुधाकरकी सृष्टि करके 'महान् विश्व-कल्याण' किया है; क्योंकि आपके इस कीर्ति-चन्द्रमें मङ्गलमय श्रीराम-प्रेम मृगाङ्क-की भाँति निरन्तर निवास करता है। इस प्रकार आप अपने श्रेष्ठ कुलमें सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीभगीरथकी भागीरथी सब देशोंमें 'सुलभ' नहीं है। भाग्यवान् दशरथके श्रीराम भी सर्वदा सबको प्राप्त नहीं हैं। परंतु आपके कीर्तिचन्द्रमें निवसित श्रीराम-प्रेम निरन्तर, देश-कालकी सीमासे विरहित होकर सभी जीवोंको सुलभ है।

इस प्रकार महर्षिने उत्तरोत्तर गुणोंका उत्कर्ष दिखाया। श्रीभगवच्चरण-नख-निर्गता सुरसरिताके परम पुनीत अवतरण-के कारण राजर्षि श्रीभगीरथ प्रशंसनीय हैं। परम पावनी महिमामयी 'श्रीगङ्गा'के जनक श्रीरामके प्राकट्यसे सत्य-सनेही दशरथ तो 'उनसे' भी बढ़कर हैं, और श्रीरामको प्रकट करनेकी क्षमता रखनेवाले श्रीप्रेम महाराजको सर्वदा सुलभ करनेवाले श्रीभरतलाल! आपकी महिमाकी प्रशंसा करनेमें कौन समर्थ है।

षष्ठ तरङ्ग—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

महिमामय! वनमें निवास करनेके कारण तथा तपस्वी एवं संसारसे विरक्त होनेके कारण हमें असत्य भाषण नहीं करना पड़ता। हम अपनी उसी प्रवृत्तिसे अपनी सफलता आपको श्रवण करा रहे हैं। साधक आजीवन साधनाएँ करता है; किंतु उसकी साधना फलवती तभी होती है, जब उसे त्रिमूर्ति (श्रीसीता-राम-लक्ष्मण) के परम पवित्र दर्शन हो जायँ। मैं भी एक साधक हूँ। जीवनमें तीर्थराज प्रयागमें निवासकर तप, त्याग, योग, जप, वैराग्य आदि अनेक प्रकारकी साधनाएँ मेरे द्वारा आरम्भ होकर सम्पूर्ण हुईं। उनके फलसे मैं वञ्चित न रहा—श्रीसीता-राम-लक्ष्मणके पवित्र दर्शनोंको पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। किंतु आज श्रीतीर्थराजके साथ हमारा परम सौभाग्य है कि हम उन दिव्य त्रिमूर्तिके दर्शनोंका दिव्य फल उपलब्ध कर रहे हैं—आपके दिव्यातिदिव्य अलौकिक श्रीराम-प्रेमका हम रसास्वादन कर रहे हैं।

विशेष—'रामभगतिरससिद्धि' एवं 'तेहि फल कर फल' का भाव महात्माओंने, मानसविज्ञोंने जी भरकर लिखा है, उन भावोंको पढ़कर हृदय प्रमुदित हो जाता है। साथ ही एक भाव बालक-हृदयमें और मूर्त हुआ है; इस भावके द्वारा यदि श्रीराम-रसिकोंके रसमें कुछ अभिवृद्धि हुई तो बालक कृतार्थ हो जायगा।

'फलकर फल' रस होता है। जब फलको लेकर उसका आस्वादन किया जाता है, तब रसका ही आविर्भाव होता है। महर्षिके हृदयरूपी उर्वरा भूमिमें साधनस्वरूप वृक्षका समुद्भव हुआ। सदाचार, संयम, नियम, निरभिमानता आदि जलसे सिञ्चित होकर उस वृक्षने फलदायिनी शक्ति प्राप्त की। यथासमय उस वृक्षमें त्रिमूर्तिके शुभदर्शनस्वरूप फल भी दृष्टिगोचर हुए। जब जीव फलप्राप्ति करता है, तो उसे एक विशेष आनन्दकी अनुभूति होती है, वह आनन्दानुभूति श्रीरामके द्वारा भक्ति वर-प्राप्ति है। केवल वर-प्राप्तिके द्वारा ही भक्ति रसमयी नहीं होती है। भक्तिमें सरसता तो तब आती है, जब उसे महान् श्रीराम-प्रेमीका मधुर सम्पर्क प्राप्त हो जाता है। उस मधुर सम्पर्कके द्वारा भक्तिमें रसका आविर्भाव हुआ, यही 'फलकर फल' है। और इसी भावका आश्रय करके अभी-अभी पाँचवीं वीचीमें कहा है—

राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस।

सप्तम तरङ्ग—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। ....॥

हे रसस्वरूप श्रीभरतलाल! आप धन्य हो! आपका यशचन्द्र धन्य है! आपका श्रीराम-प्रेम धन्य है। आपने अपनी सुहावनी सुकीर्तिके द्वारा अखिल जगत्‌पर विजय प्राप्त कर लिया। शस्त्रास्त्रोंके बलपर विजय प्राप्त करनेवाले विजयी मनुष्योंके पराजित होनेकी सम्भावना भी रहती है, किंतु आप तो निरन्तर संसारके हृदय-साम्राज्यके सम्राट् रहेंगे।

इस प्रकार तरङ्गोंकी गणना कराते हुए महर्षि श्रीभरद्वाज श्रीभरत-कीर्ति-तरङ्गिणीके विशुद्ध एवं गम्भीर भँवर-प्रेमके चक्करमें डूब गये।

..................। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ॥

फिर बोले कौन? वाणी मूक हो गयी। धन्य है यह श्रीभरतकीर्तिकी सुहावनी सुसरित, जिसके गम्भीर भँवरमें महर्षि श्रीभरद्वाज-सदृश अमलात्मा वीतराग महात्मा भी निमग्न हो गये।

मेरे सब कुछ तुम ही हो

मेरी 'मति-गति'के, मेरे 'मन-तन'के तुम ही हो उल्लास।
मेरे 'जीवन-धन' तुम ही 'जीवन'के मेरे श्वासोच्छ्वास॥
मेरी सारी 'ममता'के हो एक तुम्हीं आस्पद भगवान्।
मेरी 'सुखासक्ति'के तुम ही एकमात्र हो विषय महान्॥
मेरे परम 'काम्य' हो केवल 'वस्तु' एक तुम ही अभिराम।
जनक-जननि-सुत-सखा-बन्धु-गुरु-स्वामी-बल-विद्या सुखधाम॥

मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्क पृष्ठ ९७७ से आगे]

७—कीर्तन-स्वाध्याय

मानवताके सच्चे उपासकको कीर्तन करना चाहिये। जिस बातका उच्चारण मनमें बार-बार किया जाता है, वैसे ही विचार मनमें आते हैं और वैसे ही संस्कार बनते हैं। कीर्तनमें भगवान्‌के किसी गुणका बार-बार उच्चारण किया जाता है। उसमें भक्त तन्मय हो जाता है। भगवान्‌के रूप, गुण, शक्तिका कीर्त्तन वैसे ही सामर्थ्यवान् विचार उत्पन्न करनेके साधन हैं।

इस गुणको अपने चरित्रमें विकसित करनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्यायद्वारा संत-महात्माओंके साथ कीर्तन करना चाहिये। श्रद्धा और भक्तिसे लिये हुए नामोंका व्यापक प्रभाव गुप्त मनपर पड़ता है तथा मन आनन्दविमुग्ध हो जाता है।

उस दैवी तादात्म्यके आनन्दकी कल्पना वही कर सकता है, जो भक्त मीराँबाईकी भाँति सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णमें तल्लीन हो निरन्तर उनके भजन-कीर्तनमें तन्मय रहता हो। कीर्तनसे शरीरमें दैवी रोमाञ्च हो उठता है। हृदयमें भक्तिकी कली प्रस्फुटित हो जाती है। धन्य तो वे साधक हैं, जो सांसारिक कार्योंसे समय बचाकर भगवान्‌के विविध नामों, रूपों, लीलाओंका भक्तिपूर्वक श्रवण, कीर्तन करते हैं।

भक्तका यह कीर्तन मनुष्यमें दैवी गुणोंका विकास करनेवाला है, कीर्तन जीव तथा परमात्माके सम्मिलनका पवित्र साधन है, भगवत्-प्राप्तिका खुला द्वार है। ब्राह्मण-घाती, पितृघाती, गुरुघाती एवं चाण्डालतक भगवान्‌के गुण तथा नामोंका कीर्तन करनेसे शुद्ध हो जाता है। कीर्तन समस्त सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्तिका सरल उपाय है।

कीर्तन और साधारण गानमें बड़ा अन्तर है। कीर्तनमें भगवान्‌के प्रति श्रद्धा, प्रेम तथा सत्यता आवश्यक तत्त्व हैं। जब आप कीर्तन करें, तब सब सांसारिक चिन्ताओंका त्याग करके एक भावसे ईश्वरीय गुणोंकी प्राप्तिमें तन्मय हो जायँ। आपको मन-ही-मन अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होगी।

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शब्दोंमें, 'भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उनके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे खड़े या बैठे रहकर वाद्य-नृत्यसहित अथवा बिना वाद्य-नृत्य उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना—यही उत्तम भक्तिको प्राप्त करनेके साधन हैं।'

दैवी सम्पदाएँ विकसित करनेके अभिलाषी मानवको प्रातः-सायं अनन्यभावसे भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन करना चाहिये। अपनी आत्माको भगवत्-प्रेममें इतना तन्मय कर देना चाहिये कि भगवान्‌के साथ एक रस, एक भाव हो जाये। भगवन्नामके कीर्तनसे भक्त ईश्वरकी सर्वव्यापकता अपने अन्तरमें तथा सर्वत्र अनुभव करने लगता है। भगवन्नाम-गुण-कीर्तन-जपके साथ ही भगवच्चरित्र, भगवत्स्वरूप-रहस्य, भगवान्‌के माहात्म्य, भगवान्‌के तत्त्वका निरूपण करनेवाले और भगवान्‌की ओर लगाने तथा विषयासक्तिसे हटानेवाले शास्त्रों, संत-वाक्योंका स्वाध्याय-अध्ययन-पठन भी अवश्य करना चाहिये।

८—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन—तप

मानवताकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको स्वधर्म-पालन करना चाहिये। चाहे कुछ भी हो, अपने कर्तव्य-पालनके मार्गपर सब प्रकारके कष्टोंका सामना करते हुए सदा डटे रहना चाहिये। स्वधर्मके लिये बुद्धभगवान्-जैसी दृढ़ता होनी चाहिये। उन्होंने कहा था—

'इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, मांस-त्वचा-अस्थि नष्ट हो जायँ; किंतु मैं बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना नहीं उठूँगा।'

यही वृत्ति, यही एकनिष्ठा, यही सतत उद्योगकी भावना हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिकी होनी चाहिये। दृढ़प्रतिज्ञ स्वधर्म-पालनके लिये मार्गमें आनेवाली प्रत्येक कठिनाईको धूलके समान समझता है।

प्रतिघात एवं प्रतिकूलता सच्चे दृढ़प्रतिज्ञके संकल्पको क्षीण नहीं करते, प्रत्युत प्रत्येक असफलता उसे नयी प्रेरणा और शक्ति देती है। भयंकर आँधी और तूफानमें भी वह कर्तव्यपथपर दृढ़तासे अग्रसर होता है और अपने लक्ष्यको ध्रुवकी भाँति सदा सामने रखकर कार्य करता है। दैवी सामर्थ्य मिलकर उसके संकल्पोंमें अपूर्व दिव्यता भर देती है।

विपत्तियाँ स्वयं उससे डरती हैं। वास्तवमें आपत्तियाँ उन्हींपर आती हैं, जो कठिनाइयोंसे डरते रहते हैं। जो व्यक्ति विपत्तियोंसे घबराता नहीं, वरं उनका मुकाबला करनेको सदैव तैयार रहता है, वे उसके पास फटकतीतक नहीं।

दूसरे भले ही समझते रहें कि उसपर विपत्तियाँ आयी हुई हैं; किंतु वह इतना दृढ़ एवं आत्मसंयमी होता है कि उस विषम स्थितिमें भी मनकी शान्ति भङ्ग नहीं होने देता।

जो सौभाग्यमें खुशीसे नहीं नाच उठते, वे दुर्भाग्यके समय रोते भी नहीं। दैवी शक्तिमें विश्वास रखनेवाले व्यक्ति समझते हैं कि सदा ईश्वरकी असीम शक्तियाँ उनके साथ हैं।

स्वधर्म-पालन करनेवाले वीर-पुंगवोंमें आत्मवादी सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, भक्तप्रवर ध्रुव, प्रह्लाद आदि सदा हमें प्रेरणा देते रहेंगे। वे कष्टोंको देखकर कभी नहीं विचलित हुए। उनके मुख-मण्डलपर चिन्ता और विषादकी लकीरें नहीं दीखीं।

सच्चा आत्मवादी पं० श्रीरामशर्मा आचार्यके शब्दोंमें कहता है—

"ऐ मेरे आनेवाले दुःखो! आओ! मेरे बालको! चले आओ। अपनी भूलोंके द्वारा मैंने ही तुम्हें उत्पन्न किया है। मैं ही तुम्हें छातीसे लगाऊँगा। दुराचारिणी वेश्याकी तरह तुम्हें 'जारपुत्र' समझकर छिपाना या भगाना मैं नहीं चाहता। तुम सती-साध्वीके धर्मपुत्रकी तरह आओ! मेरे अञ्चलमें क्रीड़ा करो। मैं कायर नहीं हूँ कि तुम्हें देखकर रोऊँ। मैं नपुंसक नहीं हूँ, जो तुम्हारा भार उठानेसे गिड़-गिड़ाऊँ! मैं मिथ्याचारी नहीं हूँ, जो अपने किये हुए कर्मका फल भोगनेसे मुँह छिपाता फिरूँ।

"ऐ कष्टो! मैं तुम्हें देखकर घबराता नहीं, डरता नहीं! तुमसे बचनेके लिये मैं किसीकी सहायता नहीं चाहता, वरन् एक कर्तव्यनिष्ठ बहादुर साधककी भाँति तुम्हें स्वीकार करता हूँ।'

आप भारतकी महान् संस्कृतिके महान् पुत्र हैं। पुण्य-भूमि भारतके राजर्षियोंके स्वधर्म-पालन, उनके दृढ़ संकल्प, निष्ठा एवं दृढ़ताको कौन नहीं जानता? आप भी स्वधर्मपर डटे रहें। कष्टोंकी परवा न करें।

महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अभ्यास जब दीर्घकालतक निरन्तर सत्-संकल्पसे किया जाता है, तभी स्वधर्म-पालनकी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है।

जिस मनुष्यने कष्टोंकी परवा न करते हुए स्वधर्म-पालनको ही अपने जीवनका मूल मन्त्र बना लिया है, वह सदा समुन्नत और प्रगतिशील रहेगा। उसके विचारोंमें दृढ़ता, संकल्पमें निष्ठा और भावनाओंमें पवित्रता आ जायगी। मनुष्य अपने विचारोंका ही फल है।

जिस व्यक्तिमें अपने कर्तव्योंके पालनमें दृढ़ता है, वह आवश्यकताके समय अपनी सारी शक्तियोंको एक ही केन्द्र-बिन्दुपर एकाग्र कर सकता है। इस एकाग्रतासे उसके शरीर, मन तथा मस्तिष्ककी सभी शक्तियाँ उसके साथ रहती हैं और इष्ट-सिद्धि होती है।

९—अन्तःकरणकी सरलता—आर्जव

मनुष्यका जैसा अपना अन्तःकरण है, वस्तुतः वैसा ही वह है। हमें अपने अन्तःकरणको छल, द्वेष, प्रपञ्च, दुरभि-संधिसे मुक्त रखना चाहिये। सरल अन्तःकरणवालेके लिये छिपानेके लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। वह बाहर-भीतर एक-सा ही होता है। हमें कुटिलतासे बचना चाहिये।

अन्तःकरणको दूषित करनेवाले अवगुणोंमें स्वार्थ और वासना अनर्थकारी हैं। वासनाके उत्पातमें मनुष्यका सम्पूर्ण संस्थान अस्त-व्यस्त हो जाता है। विषयभोगोंसे दूर रहनेसे अन्तःकरणमें शान्ति आती है।

दुःखोंसे छुटकारा पानेका एक ही उपाय है—अपने अन्तःकरणकी स्थितिको उच्च बनाइये। जो आत्मा मङ्गलमय है, उसीमें विहार कीजिये। क्षुद्र सांसारिक भोग त्याग दीजिये। परमात्माके सत्-चित्-आनन्दस्वरूपपर विचार करनेसे अन्तःकरणकी स्थिति ऊँची होती है, जीवन दिव्य बनता है।

पवित्र भावनाएँ दूसरोंके प्रति सच्ची सहानुभूति और उच्चभाव हमारे अन्तःकरणकी वृत्तिको ठीक दिशामें विकसित होनेमें सहायक होती हैं। सरल अन्तःकरणवाला स्वार्थरहित हो लोककल्याणकारी बातें सोचकर सेवा-मार्ग अपना सकता है।

जीवनकी सरलता कल्याणकारी है। संत फ्रांसिसने इसलिये जान-बूझकर दरिद्रता और सरलता अङ्गीकार की थी कि उससे प्रकृति और मनुष्यका अबाध्य सम्पर्क स्थापित हो सके। फ्रांसिस कहा करते थे कि प्रकृतिसे साहचर्य स्थापित करनेपर ही मनुष्य स्वतन्त्रताका अनुभव कर सकता है;

क्योंकि तब उसमें किसी प्रकारके ढोंगके लिये सम्भावना नहीं रह जाती। अतिरिक्त सभ्यता बनावटी जीवनकी ओर ले जाती है। काम-धंधोंसे छूटते ही आजका व्यक्ति चाहता है कि देहात या समुद्रतट आदिकी ओर दौड़ पड़े, खेतोंमें रहे, सरिताओंके तटपर विचरण करे। इससे सिद्ध होता है कि बनावटी सभ्यता ही कुटिलताकी जननी है।

बन्धुत्व और एकताके अभावके कारण आज समाजमें सर्वत्र स्वार्थ और आपाधापी मची हुई है। हर मनुष्य धोखा देकर कुटिलतासे अपना काम बना लेना चाहता है। एक दूसरेके प्रति एक प्रकारका अविश्वास-सा छाया हुआ है।

यदि हम आन्तरिक कुटिलताका परित्याग करके भ्रातृत्व और बन्धुत्वके सरल विमल भावोंको बढ़ायें और सर्वत्र एक ही आत्माके दर्शन करें तो मानव-समाजमें, घर-घरमें, प्रान्त-प्रान्तमें प्रेम, मृदुता और सहानुभूतिकी मञ्जुल धारा प्रवाहित हो उठे। सरलताके अभावमें बुद्धिका दुरुपयोग होता है। एक दूसरेके बीच स्वार्थ और कटुताकी अलङ्घ्य दीवारें खड़ी कर ली गयी हैं। सरलताके प्रयोगमें शुद्धता और प्रेमका प्रकाश होता है।

मनुष्यो! अपने अन्तःकरणके मार्गपर चलो! तुम्हारे अन्तःकरणमें ईश्वरत्वका निवास है। आत्माके निर्दिष्ट पथपर चलनेसे स्वतः तुम उन्नतिके मार्गपर आरूढ़ होगे।

ऊँचे विचार किसमें नहीं आते? कौन महत्त्वाकाङ्क्षी नहीं होता! किसकी अन्तरात्मा उच्च पदके लिये नहीं तड़पती! किंतु स्मरण रखिये, महत्ताका सेहरा उन्हींके सिरपर बँधता है, जो रात-दिन अपने अन्तःकरणके बताये दिव्य मार्गपर लगातार चलते रहते हैं।

१०—अहिंसा

मानवताके विकासके इच्छुकको अहिंसाको धारण करना चाहिये। शरीरसे किसीको कष्ट पहुँचानामात्र ही हिंसा नहीं है, मन और वाणीतकसे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। किसीको अपशब्द कहकर कटु या आवेशपूर्ण वचन कह देना भी एक प्रकारकी हिंसा है। गुप्तरूपसे किसीके विरोधमें ईर्ष्या-द्वेषके विचार रखना भी हिंसा है। अतः हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारा व्यवहार ऐसा हो जो किसीके मनको दुःख न पहुँचाये। हिंदू-शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पापोंसे बचनेको कहा गया है—१–कायिक अर्थात् शरीरसे होनेवाले, २–वाचिक (वाणीसे होनेवाले), ३–मानसिक (दुर्विचार)। इनसे बचनेसे हम अहिंसाके पथिक बन सकते हैं।

हिंसकमें कई दूषित प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह अहंवादी होता है, अपने मुकाबलेमें किसीको नहीं समझता, क्रोध करता है और व्यर्थ दूसरेको दण्ड देनेकी सोचता है, दूसरेके उत्कर्षको देखकर जलता है। ये वृत्तियाँ घातक हैं।

अहिंसा सब धर्मोंका सार तत्त्व है। जिन व्यक्तियोंने हिंसक और शोषक वृत्तिको त्याग दिया है, वे मानवताके मुकुटमणि हैं।

अहिंसाका व्यवहार उसके व्यापक अर्थमें करना चाहिये। व्यङ्ग्य, कटाक्ष, निन्दा, द्वेषपूर्ण झूठ व्यवहार—सब हिंसक वृत्तिमें शामिल हैं। परदोषदर्शन, दूसरोंकी कटु आलोचना,—साम्प्रदायिकता सब मनमें कुसंस्कार उत्पन्नकर अन्तःकरणको दूषित बनाते हैं। पर-उत्कर्ष न सहना, दूसरेके हितका नाश करना-करवाना और होते देखकर प्रसन्न होना किसीको किसी प्रकारका कभी दुःख न हो—इसके विरुद्ध कल्पना करना आदि सभी हिंसा है, अतः त्याज्य हैं। अहिंसा-व्रतके पालनके लिये शुद्ध अन्तःकरण, धैर्य, सुगठित शरीर और दृढ़ आत्मा—सर्वत्र आत्मदर्शनकी आवश्यकता है।

११—सत्य, मधुर और हितकर भाषण

अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंद्वारा जैसा मनमें सत्य विश्वास और निश्चय किया हो, ठीक वैसा ही प्रिय शब्दोंमें, सुननेवालेके हितकी भावना रखकर कहना एक दैवी गुण है, जिसे सब उन्नति चाहनेवाले व्यक्तियोंको धारण करना चाहिये।

मधुर भाषण और अपनी बातचीतमें सुखद, श्रुतिमधुर, प्रिय वचनावलिका प्रयोग एक ऐसी शक्ति है, जो सर्वत्र फलदायक है। आप कोई भी क्षेत्र ले लीजिये। मधुर शब्दावली आपको सदैव लोगोंका प्यारा बनायेगी। व्यापार, वाणिज्य, नौकरी, सार्वजनिक सम्बन्ध, परिवार तथा इष्ट-मित्र सभीमें मधुर भाषण श्रेष्ठ फल देनेवाला है। भगवान्‌ने इस गुणको धारण करनेका निर्देश मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नतिको दृष्टिमें रखकर ही किया है

इस दैवी गुणको विकसित करनेके लिये दो तत्त्व विशेष रूपसे स्मरण रखने चाहिये—

१—मनमें दूसरोंके प्रति मैत्रीभाव धारण करना, शुभ चिन्तन, शुद्ध सात्त्विक विचार और दूसरोंके प्रति अपने अन्तर्मनमें कल्याणकारी भावना धारण करना।

२—इस शुभ चिन्तनको प्रिय एवं मधुर शब्दोंमें ही कहनेका सतत प्रयत्न। भाषापर विशेष ध्यान रखना कि कही हुई बात कटु होते हुए भी अनुचित प्रतीत न हो। मधुर शब्दों और कला-चातुर्यके प्रयोगसे दूसरा व्यक्ति आपकी कठोर बात भी सहन कर जाता है। इसीसे कहा गया है—

वशीकरन एक मंत्र है तज दे बचन कठोर।

प्राचीन ऋषि-मुनि सदासे हमें प्रिय शब्दावलिका प्रयोग करनेकी सलाह देते आये हैं—

मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्ताम्।

(यजुर्वेद ११ । २१)

अर्थात् संसारके मनुष्यो! मीठा बोलो। मधुरभाषियोंके साथ रहो। जो मधुरता अपनाते हैं, उनके लिये सभी अपने बन जाते हैं।

मधु मे अन्तरास्ये (भवतु)

(पैप्पलाद-संहिता)

अर्थात् मेरे मुखके भीतर मधु हो। मैं सदा मीठा बोलूँ।

जाया पत्ये मधुमती वाचं

(अथर्ववेद ३ । ३० । २)

स्त्रियाँ सदा-सर्वदा मधुर वाणी बोलें।

उपर्युक्त तत्त्वज्ञानियोंने जिस तथ्यकी ओर संकेत किया है, वह यह है कि हम किसीसे कभी भी कर्कश व्यवहार न करें। कोई अप्रिय बात भी कहनी हो, तो यथासम्भव मधुर शब्दोंका ही प्रयोग करें। कटु शब्दोंसे राक्षसत्व प्रकट होता है। शब्दावलीका माधुर्य देवत्वका प्रतीक है। अतः थोड़ा बोलिये; पर मधुर बोलिये, सरस बोलिये। ऐसी भाषाका प्रयोग कीजिये, जो लोगोंके मर्ममें प्रवेश करे और स्थायी प्रभाव अङ्कित करे।

हे मनुष्यो! मधुर बोलिये, उसके मीठे फल जीवन-भर आपको मिलते रहेंगे; पर इतना नैतिक साहस रखिये कि अनुचित, असत्य, उद्दण्डके प्रति आप विरोध कर सकें। अन्यायके प्रति सतर्क रहकर सर्वत्र मधुरता बिखेरते रहिये।

मधुर भाषण करनेवालेकी जिह्वापर साक्षात् सिद्धियाँ निवास करती हैं। शुद्ध अन्तःकरणद्वारा जैसा शुभ निश्चय हो, ठीक वैसा ही हमें नित्यप्रतिके मधुर व्यवहार, दैनिक वार्तालाप तथा आचरणमें लाना चाहिये—यही दैवी सम्पदाका लक्षण है। शास्त्रकारोंका वचन है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य बोलिये और मधुर बोलिये। कटु सत्य मत बोलिये। दैवी वाणीका मूल, अन्तःकरणका औदार्य प्रेम, प्राणीमात्रके लिये आत्मबुद्धि उत्पन्न करता है।

प्रिय भाषणके साथ संसारकी सहानुभूति है। मीठी वाणीका खरे रुपयेकी तरह सर्वत्र स्वागत होता है। माधुर्य सार्वजनिक जीवनका रस है। पर केवल वाक्योंकी बाह्य मधुरता ही अपेक्षित नहीं है, उसके साथ हित-भावना भी अवश्य होनी चाहिये। अहितकर मधुर शब्द तो ठगोंकी सम्पत्ति है।

१२—अक्रोध

क्रोध मनुष्यकी निर्बलताका सूचक है। इसके विपरीत शान्तभाव आन्तरिक शक्ति और मानसिक संतुलनका द्योतक है। क्रोधी व्यक्ति तनिक-सी देरमें राक्षस बन जाता है और आवेशमें उचित-अनुचित, सत्य-असत्यका विवेक खो बैठता है।

क्रोधसे मानसिक तनाव उत्पन्न होता है, जिससे सुन्दर तथा आकर्षक व्यक्ति भी भयंकर राक्षसस्वरूप लगने लगता है। देवताओंके मुख-मण्डलपर दिव्य मुसकान खेलती है। राक्षस हमेशा क्रोधमें भरे रहते हैं। क्रोधकी स्थिति उत्तम मनुष्यकी स्थिति नहीं है। क्रोधका हमारे शरीरपर भी बड़ा ही दूषित प्रभाव पड़ता है। अनेक व्यक्तियोंके गिरे हुए स्वास्थ्य-का कारण स्थायीरूपसे मुख और मनमें रहनेवाली विकारमयी स्थिति ही है। अतः यह दुष्ट मनोविकार सर्वथा त्याज्य है।

अक्रोध अर्थात् क्रोधका न करना, सदा प्रशान्त और संतुलित बने रहना, विकाररहित रहना ही शक्तिशाली बने रहने-का मार्ग है। मनोविकारोंके ऊपर कठोर नियन्त्रण रखनेकी आवश्यकता है। वाग्भटके अनुसार—

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः॥

'जो मनुष्य लोक और परलोकमें सुख चाहता है, उसे चाहिये कि जितेन्द्रिय होकर लोभ, द्वेष, मत्सर और क्रोध इत्यादि मनोविकारोंको रोके।'

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता)

'आत्माका (और शरीरका भी) नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिये इनको छोड़ना चाहिये।'

क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां
देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः
स एव वह्निर्दहते शरीरम्॥

'मनुष्योंका पहला शत्रु क्रोध है। दूसरे शत्रु तो बाहरसे चोट करते हैं, पर यह तो देहमें रहते हुए ही देहका नाश करता है, जैसे लकड़ीमें रहनेवाली आग लकड़ीको जलाती है।'

पिथागोरस कहा करते थे कि क्रोधका प्रारम्भ होता है मूर्खतासे और अन्त पश्चात्तापमें। चीनी कहावत है कि तुम जो आग शत्रुके लिये जलाते हो, बहुत बार वह उसकी अपेक्षा तुम्हें स्वयं ही अधिक जलाती है।

वास्तवमें क्रोध मानव-वृत्तियोंमें सबसे अधिक निकम्मा है। इससे कुछ भी बनता नहीं, बिगड़ता ही अधिक है। जिसपर किया जाता है, उसकी अपेक्षा करनेवालेको क्रोधसे अधिक हानि पहुँचती है।

अक्रोध अर्थात् शान्तभाव धारण कीजिये। ठंढा लोहा गर्म लोहेको काटता है। क्रोध करना शारीरिक और आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टियोंसे हेय है। इससे मनमें भयंकर उद्वेग, थरथराहट, कम्पन, जलन, दूषित मनःस्थिति उत्पन्न होती है। अन्तःकरणकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। बुद्धिपर उद्वेगका पर्दा-सा छा जाता है और सामाजिक कलहकी नींव पड़ती है।

क्रोधको त्याग दीजिये। क्रोध एक प्रकारका पागलपन है, जिससे सत्संकल्पोंका विनाश होता है। क्रोधी मनुष्य बड़े-से-बड़ा अन्याय करनेसे नहीं हिचकता। क्रोधके साथ द्वेष मिलकर हमारी न्यायान्यायकी वृत्तिको पङ्गु कर देता है। प्रायः हम ऐसी बात कर बैठते हैं, जो हमारे भविष्यके लिये घातक सिद्ध होती है। दैवी सद्गुणोंका विकास करनेवालेके लिये क्रोध साक्षात् विषतुल्य है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध एक प्रकारकी मानसिक एवं स्नायविक दुर्बलताका प्रकाशन है। दृढ़ संकल्प एवं स्थिर मानसिक शक्तिवाले पुरुष क्रोधके दुःखदायी प्रभावोंसे मुक्त रहते हैं। दैवी सम्पदावाला नररत्न अपने शत्रुपर भी क्रोध नहीं करता प्रत्युत प्रेमपूर्ण उपायोंसे उसे संतुलित करता है। स्मरण रखिये—चिन्ता, घृणा, दुराव, क्रोध, ईर्ष्या मनुष्यकी शक्तियोंको क्षीण करते हैं। ईश्वरकी इच्छा है कि आप शान्तिपूर्वक संतुलित रहें। अतः क्रोधको छोड़ दीजिये।

१३—कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग

मनुष्यके साथ दैवी इच्छा और दैवी शक्तिका साहचर्य रहता है। यह गुप्त दैवी-शक्ति हमें अप्रत्यक्षरूपसे सदा सहायता देती रहती है। हमारा तो पुरुषार्थ रहता ही है, गुप्तरूपसे हमारे इर्द-गिर्द हमारे वातावरण तथा मनमें ऐसी शक्तियाँ हैं, जो अचूक ब्रह्मास्त्र है। हम शरीर ही नहीं वरन् आत्मा—महान् आत्मा हैं, परम आत्मा हैं, अतः साक्षात् सफलताकी मूर्ति हैं। हम जिसे आत्मध्वनि कहते हैं, वह हमारे अन्तरसे बोलनेवाला ईश्वर ही तो है। अतः जब हम कोई शुभ कर्म करते हैं, तब वास्तवमें हमारे माध्यमसे ईश्वर ही वह कार्य कराता है।

हमारे द्वारा जो बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य सफल होते हैं, वे वास्तवमें हमारी इसी गुप्त ब्रह्मशक्तिद्वारा होते हैं। हम तो जगन्नियन्ता ईश्वरके हाथमें एक औजारमात्र हैं। हमारे जरियेसे ईश्वर अपनी सदिच्छाएँ पूर्ण किया करता है। हम जो कुछ सफलता लाभ करते हैं, उसका श्रेय हमें नहीं, ईश्वरको ही है। अतः कार्योंमें कर्तापनका अभिमान त्याग देना चाहिये।

हम निरन्तर कार्य करें, क्योंकि कार्य करना तो हमारा पुनीत कर्तव्य है। सच्चा साधक मनोयोगसे काम करता है, पर निःस्वार्थ एवं निष्कामभाव रखता है। 'भगवान् ही मेरेद्वारा अपने पवित्र कार्य करा रहे हैं'—ऐसा भाव सदा वह मनमें रखता है। वह अपनी सफलताका सम्पूर्ण श्रेय भगवान्‌को ही देता है। इसकी क्रियाएँ और दैनिक कार्य अहंकारप्रेरित न होकर प्रभु-प्रेरित हुआ करते हैं।

'परम प्रभु ही मेरे हाथसे सब कुछ करा रहे हैं। मेरे कार्योंकी बागडोर तो मेरे परम प्रभुके कर-कमलोंमें है। उन्हींकी शक्तिसे मेरा समस्त कार्य सम्पन्न होता है। मैं तो उनके हाथमें एक यन्त्र (Instrument) मात्र हूँ।' —इस विनीत आत्मसमर्पण-प्रधान भावको मनमें रखनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। वेदोंमें कहा भी है—

पुरुष एवेदं सर्वम् (ऋग्वेद १०।९०।२)

यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका ही रूप है। संसारको परमात्माका प्रत्यक्ष स्वरूप मानकर इसकी सेवा करनी चाहिये। अपने कर्तापनका अभिमान त्याग देना चाहिये।

प्रजापतिः"'बहुधा वि जायते" (अथर्ववेद १०।८।१३)

इस विश्वमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें जन्म ले रहा है। संसारके सब प्राणधारी उस एक परमात्माकी प्रतिमूर्तियाँ हैं।

मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः (शत० ब्रा० ११-१-२-१२)

मनुष्य शुभ कार्य करके देव बनते हैं। अतः शुभ कार्य (कर्तापनका त्याग कर) करो और इसी शरीरसे भूसुरका पद प्राप्त करो।

हे मनुष्यो ! यह संसार सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमात्माकी प्रकृतिद्वारा ही संचालित है, उन्हींकी लीलाभूमि है। यहाँका प्रत्येक जीव (हम और आप) उसी सूत्रधारकी कठपुतलियाँ हैं। अतः हमारी सारी सांसारिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सफलताओंका श्रेय उसी महामहिम ईश्वरको है।

'मैं तो ईश्वरका एक निमित्तमात्र हूँ।'—यह भाव मनमें रखकर हम स्वयं अपने मनको ईश्वरमय कर लेते हैं, अन्तःकरणकी पवित्रता, शान्ति और शीतलता प्राप्त करते हैं। सर्वत्र अपने अंदर गतिशील सर्वव्यापक परमात्माको बार-बार स्मरण करनेसे हमारी जन्म-जन्मान्तरकी मलिन वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

अपने ईश्वरीय रूपपर विचार कीजिये। आप नित्य-शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वरूप, अचिन्त्य अखण्ड चेतन, अमल सुखराशि हैं। अज्ञानवश अपने स्वरूपको विस्मृतकर व्यर्थ दुखी और अभिमानी बन रहे हैं। ज्ञानकी पैनी कृपाणसे अज्ञान-पाशको काटकर स्वच्छन्द आत्मा बनें। अपने स्वरूपको पहचानें।

मान, बड़ाई, प्रशंसा तथा कर्मोंमें अभिमान प्राप्त करनेकी इच्छा खाजकी भाँति एक बड़ा सुहावना रोग है। इसके वशमें हो जानेपर मनुष्य सत्-कर्मोतकको अभिमानकी अग्निमें होम देता है, प्रमादी बन जाता है, अपने भाग्यपर इतराता है।

पर यह सब कुछ मनुष्यके पतनका सूचक है। कर्तापनका अभिमान एक संक्रामक बीमारी है, जो मनुष्यको अधोगतिमें पहुँचा सकती है। अतः इस दुर्गुणसे बहुत सावधान रहना चाहिये।

तुम महान् हो, पर तुम्हारी महानताका रहस्य गुप्त ईश्वरीय शक्ति ही है। अपनी इस दैवी महानताको पहचानो और उसे समझनेमें, खोजनेमें और प्राप्त करनेमें तन्मयतासे जुट जाओ।

१४—शान्ति, अन्तःकरणकी उपरामता—

भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यका चौदहवाँ गुण उपरामता माना है। उपरामताका अर्थ है—चित्तकी प्रशान्त स्थिति, चित्तमें चञ्चलताका न होना। अशान्त मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और चित्तकी चञ्चलतासे मनुष्यकी अनेक मानसिक शक्तियोंका क्षय हो जाता है। भगवान्ने स्वयं लिखा है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

अर्थात् जिसका मन वशमें नहीं है, उसके लिये योगको प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है; किंतु मनको वशमें करनेवाले प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि चञ्चल चित्तका निग्रह अत्यन्त कठिन है। अर्जुन-जैसे महावीरोंके सम्मुख भी मनोनिग्रहकी सीढ़ीपर सबसे अधिक कठिनाई पड़ी थी; किंतु बिना एकाग्रताके मानसिक शक्ति और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

वास्तवमें यह कहना सत्य ही है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यका मन ही जगत्के बन्धन और मोक्षका प्रधान कारण है।

दैवी सम्पदाएं प्राप्त करनेवाले पुरुषके मनमें चञ्चलता नहीं रहती। वह तनिक-सी बातसे उतावला नहीं होता। उतावलेपनको वह एक मानसिक कमजोरी मानता है। हृदयकी वासनाएँ, अभद्र इच्छाएँ एवं सांसारिक कामनाएँ इधर-उधर दौड़ नहीं मचातीं, उसका मन अप्रिय विषयोंमें नहीं भटकता। वह उद्देश्यरहित होकर निष्प्रयोजन वस्तुओंकी ओर नहीं दौड़ता। उसके अन्तःकरण-प्रदेशमें तो सदा एकाग्रता, शान्ति एवं आनन्दका साम्राज्य छाया रहता है।

उत्तम पुरुष अपने जीवनके प्रकाशमय, आनन्द एवं प्रेममय पहलुओंपर ही अपने मानसनेत्र एकाग्र करता है। उसका अन्तःप्रदेश विक्षेपरहित शान्त अवस्थामें रहता है। आत्माके आनन्दमें मग्न रहनेके कारण उसके पास चञ्चलता नहीं आती।

चित्तकी चञ्चलता मनुष्यकी एक बड़ी कमजोरी है। अनेक व्यक्ति तनिक-तनिक-सी बातोंमें उद्विग्न हो जाया करते हैं। इस ओर ध्यान न देनेसे यह मानसिक रोग उनके स्वभावको चञ्चल बना देता है। चिड़चिड़ा व्यक्ति जरा-जरा-सी बातपर यों ही बिगड़ने लगता है। स्नायविक दुर्बलताका शिकार होनेके कारण उसके मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु कम्पायमान रहते हैं।

स्मरण रखिये चञ्चलता और उद्विग्नतासे आपकी मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है। जरा सोचकर देखिये, जिस दिन आप उद्विग्न रहते हैं, उस दिन आप कुछ भी स्थायी कार्य नहीं कर पाते। आप कोई भी अच्छी और उपयोगी बात सोच ही नहीं पाते। मनोवेगोंका यह ताण्डव छोड़ देना चाहिये और स्थिर एवं संतुलित चित्तसे ही कार्य करना चाहिये। ऐसे मानसिक उद्वेगोंसे आन्तरिक स्थिति क्षत-विक्षत होती है।

आप पूछते हैं, अन्तःकरणकी उपरामताको प्राप्त करनेके क्या उपाय हैं? हमारा मन एकाग्र क्योंकर हो?

इसके लिये भगवान्‌ने दो ही उपाय बतलाये हैं—

१—मनको पुनः-पुनः किसी शुभ कार्य या विचारमें एकाग्र रखना।

२—वैराग्यका अभ्यास।

मनको बार-बार दुश्चिन्ताओंसे मोड़कर एकमात्र अपने दिव्य शक्तिमय रूपपर एकाग्र करना चाहिये। पहले तो मन दौड़-दौड़कर विषयोंकी ओर भागेगा, पर बादमें उसकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी।

वैराग्यका अभ्यास कीजिये। सांसारिक पदार्थोंका अस्थिर अनित्य स्वरूप समझमें आनेपर जब जीव सर्वथा वितृष्ण हो जाता है, तब सद्-विवेकके नेत्र खुलते हैं।

हमें विषयोंसे आकर्षण हटाकर सौन्दर्यके उद्गम-स्थान अपनी आत्मापर दृढ़तासे मनको एकाग्र रखना चाहिये। माया-मरीचिकासे वितृष्ण होते ही वैराग्यके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और सम्पूर्ण अविद्या दूर हो जाती है।

मनको वशमें करनेके लिये जीवनको नियमोंमें बाँधना चाहिये। एक अच्छी दिनचर्या बनाइये। प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्तसे लेकर रात्रिमें शयनतक क्या-क्या सांसारिक कर्तव्य, दैनिक ध्यान-प्रार्थना, पूजन-अर्चन, संध्या-उपासनाएँ होनी चाहिये—इसका ब्योरा तैयार कीजिये और उसपर दृढ़ रहिये।

सात्त्विक कार्योंके लिये मनको सदा प्रोत्साहन देना चाहिये। दुष्कर्मोंमें भागनेपर ताड़ना और भूलसे पाप हो जानेपर पश्चात्ताप करना चाहिये। अच्छे साहित्यका नियमित स्वाध्याय, उसपर मनन और चिन्तन खूब होना चाहिये। जिसे उत्तमोत्तम पुस्तकोंके पठन-पाठनका सौभाग्य प्राप्त है, उसके लिये चञ्चल लक्ष्मीका शुष्क विनोद किस अर्थका है?

हरे-भरे वनमें भी भूखों मरनेवालों और ज्ञान प्राप्त करनेके इतने सुलभ और सस्ते साधनोंके होते हुए भी ज्ञानविहीन रहनेवाले मनुष्योंमें क्या अन्तर है?

गरीबोंको दरिद्रतासे छुड़ानेकी, दुखियोंका दुःख दूर करने तथा शरीर और मनको नीरोग रखनेकी जितनी शक्ति सद्-ग्रन्थमें होती है, उतनी और किसी चीजमें नहीं है।

सद्ग्रन्थोंसे सद्विचार आते हैं और मनका संतुलन स्थिर रहता है। उन विचारोंको त्याग दो, जो आत्माको कष्ट दें। अनीति और अधर्मके कुविचार सर्वथा त्यागने योग्य हैं—

अप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे। —ऋग्वेद

अर्थात् कुविचारों और कुकर्मोंसे दूर रहो। ये अपने धारण करनेवालोंको ही नष्ट कर देते हैं।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।

(अथर्व० २०। ९६। २४)

अर्थात् मानसिक पापोंका परित्याग कर दीजिये। मनमें जमी हुई पुरानी जीर्णवासना ही दुष्कर्म कराती है।

जब-जब मन सांसारिक विषय-वासनाओंकी ओर भागे, तब-तब उसे आग्रहपूर्वक पवित्र विचारोंमें दृढ़ कीजिये। परमेश्वरके दिव्य गुणोंका चिन्तन कीजिये।

'योगदर्शन' आपका प्रिय ग्रन्थ होना चाहिये। उसमें वर्णित मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि वृत्तियोंका अभ्यास करना चाहिये। समाधि और प्राणायाम आदि भारतीय ऋषियोंके जाँचे हुए चित्तको एकाग्र करनेके साधन हैं। मनसे पृथक् हटकर उसके नाना कार्योंको देखिये और सतर्क चौकीदारकी तरह वासना, ईर्ष्या, द्वेष और मिथ्या भय-को प्रविष्ट न होने दीजिये। धैर्यपूर्वक निरन्तर अभ्याससे चञ्चलता दूर कीजिये।

दो भूलो, दो याद रखो

१ भूलो—हुआ कभी जो तुमसे अन्य किसीका कुछ उपकार।
२ भूलो—हुआ किसीके द्वारा कभी तुम्हारा जो अपकार॥
१ याद रखो—जो हुआ किसीसे कभी तुम्हारा कुछ उपकार।
२ याद रखो—जो हुआ किसीका तुमसे कभी तनिक अपकार॥

संत सेठ श्रीरामरतनजी डागा

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी व्यास 'विशारद')

पुण्यपुरुषोंके भूतलपर अवतरित होनेसे प्राणिमात्रका उपकार ही होता है। पापका पलड़ा जब भारी हो जाता है, तब सृष्टिको डिगनेसे बचानेके लिये महापुरुष जन्म लेते हैं। वे अपने अलौकिक त्याग, सेवा और प्रेमकी त्रिवेणीमें संसारको स्नान कराके उसे पवित्र तथा उज्ज्वल बना देते हैं।

'हाय ! मेरा धन', 'हाय ! मेरा परिवार' जो आठों पहर यही झींखते रहते हैं और ईर्ष्या और रोषवश राक्षसोंकी तरह दूसरोंका अहित करनेमें ही तत्पर रहते हैं, उनके लिये कैसा धर्म और कैसे भगवान्; वे तो उनके निकटसे ही नहीं निकलते। वे अपनी काली करतूतोंसे ही बालकोंके खेल '*चिलम-चिलम धूताड़ियो'की तरह अपने और पराये घरोंको काला करते रहते हैं।

'माया मायापतिकी है। मैं तो उसका रखवाला हूँ। सारी सृष्टि प्रभुका एक परिवार है, फिर अपना परिवार उससे भिन्न कैसा ?' ऐसी गम्भीर बुद्धिवाले महापुरुष ही प्रेम और भाई-चारेकी भावनाओंसे संसारको सुगन्धित बना देते हैं।

बीकानेरमें भी ऐसे बहुत-से महापुरुषोंने जन्म लिया है। उनमेंसे एक हमारे पूजनीय शिवलोकवासी संत सेठ श्रीरामरतनजी डागा थे।

संत सेठ साहबका जन्म संवत् १८९८ में बीकानेरके प्रसिद्ध डागापरिवारमें हुआ था। यह परिवार अबतक 'वंशीलाल अबीरचंद' के नामसे भारतके बड़े-बड़े नगरोंमें व्यापार करता है और पर्याप्त ख्यातिलब्ध है।

सेठ रामरतनजी भगवान् महादेवके बड़े भक्त थे। सब कार्य करते हुए भी उनकी सुरत अपने इष्ट देवतामें ही लगी रहती थी। वे जन्मसे ही उदार और गम्भीर थे। गृहस्थ होते हुए भी वे महान् त्यागी और विरक्त थे। जल-कमलवत् वे संसारमें विचरते थे।

धन-सम्पत्तिको वे महादेवकी समझते थे, अपनी नहीं। अपनेको केवल महादेवका मुनीम मानते थे। वे किसीको छोटा-बड़ा नहीं समझते थे; महादेवकी सृष्टिमें सब बराबर, ऊँच-नीच कैसा ? लोग उनके गुणोंपर रीझकर उनका बड़ा आदर करते थे। आपका उनपर स्नेहमय सात्त्विक प्रभाव था। संक्षेपमें लोग उन्हें संत समझते थे।

इधर वर्ष समाप्त हुआ कि सेठजी सब गुमाश्तों-नौकरोंको बुलाकर कहते—'अपना-अपना हिसाब सलटा लो, भाई !' प्रकटमें तो यों सबको खड़खड़ा देते, पर परोक्षमें मुनीमजीको आदेश दे देते कि 'जिसके नाम जितने रुपये निकलते हैं, सब खर्चखाते लिखकर खाता ड्योढ़ा कर दो।' मुनीमजीके किंचित् विरोध करनेपर कहते—'भला, सोचो तो सही—वे बेचारे कहाँसे सधायँगे। घरमें खानेवाले पूरे-सूरे हैं। शंकरका पैसा फोकटमें बिना उनकी मर्जीके कोई नहीं पचा सकता। यदि हम उन्हें तंग करेंगे तो वे शंकरके घरकी ही चोरी करेंगे, उनके अलग कोई व्यापार-धंधा तो है नहीं।' यह थी सेठसाहबकी हृदय-महानता—सच्ची सहानुभूति।

घड़ीमें टन-टन चार बजते ही सेठजीका बुलावा आ जाता। मुनीम-गुमास्तेसे लेकर छोटे-से-छोटे नौकर-तकको तैयार हो जाना पड़ता। जो कहता—मेरा

---

* बच्चे अपने-पराये घरोंपर जगह-जगह कोयलेसे काली लकीरें खींच देते हैं; फिर परस्पर लकीरवाले स्थानको ढूँढ़नेके लिये कहते हैं।

काम थोड़ा बाकी है, उसे उत्तर मिलता—'हमारे यहाँका काम हमसे छिपा नहीं है, भाई ! यदि तुम ग्यारह से चार बजेतक ईमानदारीसे काम करते तो काम शेष रह ही नहीं सकता था; झूठा दिखावा-भुलावा मुझे पसंद नहीं है ।'

कोटड़ी पहुँचनेपर बिना भेद-भावके नाई सबकी हजामत बनाता । फिर मिलती बढ़िया ठंढाई और मिलता घरकी भट्टीसे तैयार कराया हुआ बढ़िया गुलाबका इत्र ।

सर्दियोंमें बादामकी बोरियाँ भरी रहतीं । सेठजीकी स्पष्ट आज्ञा थी जिसके घर जितनी जरूरत हो, ले जायँ । एक बार एक नौकरने बादाम चुरा लिये । चुगल चूकते थोड़े ही हैं, झट सेठजीको चुगली हुई । उनको वचन-सिद्धि थी—जो कह देते, होकर रहता । किंचित् खीझकर उन्होंने कहा—महादेवका भंडार सबके लिये खुला है । फिर भी कोई चोरी करता है तो चोर ही बना रहेगा । ऐसा देखा गया कि वह व्यक्ति चोरीके मामलेमें जेल गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई ।

सेठजीकी खास आदत थी कि वे अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे । नित्य नियमपूर्वक श्रीकाशी-विश्वनाथजीके दर्शनके लिये सैंसोलाव तालाब जाया करते थे ।

एक दिन मार्गमें एक 'साधु बाबा' मिल गये । उन्होंने सेठजीसे दस रुपयोंका सवाल किया । उन्होंने मुनीमजीके नाम रुक्का लिखकर वहाँसे ले आनेको कह दिया । मुनीमजी चिढ़े हुए थे, लिया साधुको लबड़-धक्के । बोले—दिन ऊगा ही नहीं कि फकीरिया फौज आ डटी । सेठजी तो घर-लुटाऊ है । लेना हो तो एक-दो रुपये लेकर अपने पापे-पुन्ने लगो । साधु था वास्तविक जरूरतमन्द और निष्कपटी । बोला—'मुझे तो पूरे दस ही चाहिये, जरा भी कम नहीं ।'

मुनीमजी गरम होकर गर्ज उठे—जैसे हमारे यहाँ जमा धर रखी हो ? लेना हो तो लो, नहीं तो यह रहा नाककी डाँडी-सा मार्ग ।

सेठजी दर्शन करके लौट रहे थे कि साधु बाबासे भेंट हुई । साधुका मुँह देखकर ही वे सब ताड़ गये और बोले—'नहीं दिये न ? जैसे उनके बापका माल है; सब कुछ तो शंकरका है । उन्होंने दसके आगे एक शून्य बढ़ा दिया और कहा—'मुझे दुःख है, एक बार और आपको जानेका कष्ट करना होगा; पधारिये, ले आइयेगा ।'

इधर मुनीमजी जले-भुने बैठे थे, उधर शंकर-भगवान्-को लीला करनी थी । साधुने मुनीमजीके सामने रुक्का रख दिया, जिसे दूर फेंकते हुए वे बोले—'रुपये आकों-के नहीं लगते, महाराज ! एडी-चोटीका पसीना एक करना पड़ता है । दो-चार लेकर पिण्ड छोड़ो ।' साधु उत्तर सुनकर लौट पड़ा ।

इस प्रकार उसे चार बार फेरी फिरनी पड़ी; शून्य बढ़ते गये । झड़-झपाट सुनकर सेठजीके ज्येष्ठ भ्राता श्रीअबीरचन्दजी मुनीमजीसे बोले—'आज क्या आपकी अक्ल भाँग खा गयी है ? रतन आया तो पूरे एक लाख रुपये ही चुकता कर देगा । उसके काममें विघ्न मत डाला करो, कितनी बार आपको चेतावनी दी है । उन्होंने साधु महाराजको सादर विनयपूर्वक राजी करके दस रुपये दे दिये और उन्हें समझा दिया कि रतनके पूछनेपर कह दीजियेगा कि रुपये मिल गये । उसने लौटकर ऐसा ही किया ।

विवाह-शादियोंके दिनोंमें सेठ साहब चोखे और भरोसेवाले मनुष्योंको बुलवाकर कहते—'आपको कृपा करके थोड़ी-सी सहायता करनी होगी । बतलाइये तो आपकी जातिमें लड़के-लड़कियोंके कुल कितने विवाह हैं ? अन्दाजन कितना उचित व्यय करना अनिवार्य होगा ?'

उनके निष्कपट सुझावके अनुसार ही वे लाल कपड़ेकी थैलियाँ सिलवाकर उनमें उतना ही द्रव्य रखकर बिना जात-पाँतके भेद-भावके, विश्वासी आदमियोंके हाथ छिपे-छिपाये किसीकी छतपर और किसीके घरकी मोरीमें बाँसद्वारा ठिलवाकर आँगनमें डलवा देते।

पौ फटते ही, औरतें बासी फूस-बुहारी करतीं और थैली पड़ी देखकर समझ जातीं कि यह सेठजीकी ओरसे विवाहके लिये दिया हुआ गुप्त-दान है। उस समय कैसी वे हृदयसे उन्हें आशीर्वाद देती होंगी?

'पैसा महादेवका है, मैं तो उसका मुनीम हूँ। किसमें सामर्थ्य है जो बिना उसकी मर्जीके उसका दैवी-द्रव्य छलसे ले ले।' इस महावाक्यकी आवृत्ति दिनमें कई बार नित्य ही सेठ साहब कर लिया करते थे।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। ऐसे पर-दुःख-कातर और परोपकारी सेठके घरमें एक दिन चोर घुस गये। सेठजीकी नींद खुली। चोरोंने कटारसे पेट चीर डालनेकी धमकी दी। उन्होंने पूछा—'क्यों मारनेपर उतारू हुए हो? कुछ बताओ भी?' धन बतलाओ, हमें धन चाहिये!' चोर बोले। उन्होंने तिजोरियोंकी चाबियोंके गुच्छे उनके सामने फेंक दिये। तब भी चोर शङ्कित रहे और वे सेठको मुश्के बाँधकर मुँहमें वस्त्र ठूँसनेका प्रयत्न करने लगे। वे बोले—'क्यों यह सब कर रहे हो? मैं भगवान् शंकरकी शपथ लेता हूँ कि न तो अभी और न बादमें ही किसीको यह भेद बतलाऊँगा। ले जाओ मन चाहे जितना, शंकरका माल है। उनकी सम्भव है यही इच्छा हो।' चोरोंने बाचा लिया और बड़ी-बड़ी गठरियाँ बाँधकर चैनसे चलते बने; परंतु यह क्या? नेत्रोंके पट मिल गये, दिखना बंद हो गया और मारने लगे वे इधर-उधर टटोले। अन्तमें झींखते-पछताते उनके ही पैर पकड़े और रोकर क्षमा माँगी, तब कहीं अंधापन मिटा। तबसे उन्होंने सेठजीके यहाँ ही नौकरी कर ली।

उनके दीवानखानेसे कभी कोई खाली हाथ नहीं जाता था। एक बार एक ब्राह्मण देवता वहाँ पहुँचे। बोले—कन्याका विवाह है, पाँच सौकी आवश्यकता है। सेठजीने कहा—'मेरे विचारसे ३००) में ही भली-भाँति काम चल जायगा।' ब्राह्मण खीझकर बोला—'देना हो तो पूरे ५००) दो, अन्यथा ना कह दो।' उन्होंने कहा—'३००) से लेकर ३०००) तककी चिट्ठियाँ डाल लो और शंकरका नाम लेकर आँख मूँद-कर उठा लो।' एक बार, दो बार, तीन बार ऐसा किया गया, परंतु हर बार ३००) ही की चिट्ठी उठी। तब हँसकर वे बोले—'शंकरकी ३००) की ही आज्ञा है तो अधिक कैसे मिलेगा?' लज्जित होकर उतने ही रुपये लेकर ब्राह्मण देवता चलते बने।

एक ब्राह्मणके कुछ डौल नहीं था। किसीने उसे सुझाया कि सेठजीकी बग्घीके आगे-आगे भागने लगो। एक-दो बार ऐसा करनेपर सेठजीकी नजर उसपर पड़ी। उन्होंने पूछा—'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो, भाई? फिर सहानुभूतिपूर्वक, धीरज दिलाते हुए उससे सब बातें पूछने लगे। सब सुन-गुनकर बोले—'देखो देवता! आपने मुझपर बड़ा भारी अपराध चढ़ा दिया। शंकर! शंकर! ब्राह्मण और मेरी बग्घीके आगे-आगे भागे। मैं तो ब्राह्मणोंके चरणोंकी रजको सादर मस्तकपर चढ़ाता हूँ।' फिर पूछा—'आप पढ़े-लिखे तो अवश्य ही होंगे?'

'काला अक्षर भैंस बराबर है।'

'रसोई बनानी आती है?'

'चूल्हेमें फूँक देना भी नहीं आता'।

'तब……तब……तब तो……अच्छा ठीक है। कल दुपहरमें आप दीवानखाने अवश्य पधारो।'

दूसरे दिन सेठजीने नागपुरकी दुकानपर एक चिट्ठी लिखी, जिसमें यह स्पष्ट आदेश था कि इन ब्राह्मण

देवताको वहाँवाले रसोइया रसोई करना सिखायें और जबतक ये पूरी तरह नहीं सीख लें, तबतक दोनो एक ही स्थानपर काम करें और वेतन लेते रहें। पत्रवाहक महाराजके होली, दिवाली और राखी-पूजनादि त्योहारोंपर यथार्थ दक्षिणा दी जाकर ऐसी व्यवस्था कर दी जाय, जिससे वर्षभरमें निर्वाहयोग्य पर्याप्त द्रव्य इन्हें मिल जाय। ध्यान रहे कि इसमें त्रुटि न होने पाये, इस प्रकार ब्राह्मण देवताका दारिद्रय धुला और वे लगे धापने-फाटने।

मतीरोंकी ऋतुमें, बढ़िया मतीरोंके टाँकियाँ लगवाकर उनमेंसे किसीमें एक मोहर और किसीमें रुपये रखवाकर उसका मुँह बंद करवा देते। देते समय साधुओंको सेठजी कहते—'महाराज! ये भंडानके प्रसिद्ध मीठे मतीरे हैं; स्वयं खाना, बेच न देना।' इस प्रकार वे गुप्त दान किया करते थे।

ग्रीष्म ऋतुमें मरुभूमिमें आग बरसती है। आदमी बिना परके तड़फने लगते हैं। ऐसे समयमें सेठजी जगह-जगहपर शीतल जलकी प्याऊ लगवा देते थे। बेचारे अबोल जानवरोंके लिये जंगलोंमें जगह-जगह मिट्टीके कूँडे जलसे भरवाकर रखवा देते। वट, पीपलादि वृक्षोंमें जल सिंचवाते थे।

तालाबसे जल भर-भर लानेवाली पनिहारिनियोंके लिये कंधे-कंधेतक ऊँची भीतें बनवा दी थीं, जिसपर वे सरलतासे अपने घड़े रखकर थोड़ा विश्राम ले सकें। ऐसी भीतें आज भी मौजूद हैं।

इतना ही नहीं, अपंग-अशक्त मनुष्यों, विधवाओं और गरीबोंके निर्वाहार्थ वे गुप्तरूपसे धन दिया करते थे।

एक बार उन्हींके भाइयोंमेंसे एक डोकरी (बुढ़िया) परलोक सिधार गयी। गरीबका कौन बेली? घरवाले बेचारे सब भाइयोंके घर घूमे, परंतु सबसे एक ही टरकाऊ उत्तर मिला—'बस आये ही।' परंतु आया कोई नहीं। सेठजीको सूचना मिलनेपर वे तुरंत ही सिरपर सफेद दुपट्टा लपेटकर मृतकके घर आगे आ खड़े हुए। यह देखकर सब भाई-बन्धु बात-की-बातमें उपस्थित हो गये। सेठजीने डोकरीको अपनी माँकी तरह मानकर मरणोपरान्त सब धार्मिक कृत्य करवा दिये।

सेठजीके घरमें उनकी भतीजीका विवाह। माहेश्वरी वैश्योंमें ऐसी रीति है कि वरपक्षवाले अपने द्वारा निमन्त्रित जनोंको पहचानकर समधीकी भोजनशालामें घुसने देते हैं। सेठ साहबका बड़ा नाम सुनकर निमन्त्रित-अनिमन्त्रित अनगिनत आदमियोंका जमघट्ट मच गया। हल्ला सुनकर सेठ साहबने समधीसे विनयपूर्वक सादर कहा—'जो आपके न्योतेसे आये हैं, वे तो ठीक ही हैं, शेष सबको शंकरके न्योतेसे आये समझियेगा। मेरी प्रार्थना है—शंकरके भंडारसे कोई भूखा नहीं जाना चाहिये।' विशाल भोजनशालाके द्वार खुलवा दिये। नगरके अधिकांश व्यक्तियोंने खूब छककर भोजन किया।

बीकानेरमें सेठ साहब 'रतनसेठ' के नामसे प्रसिद्ध हैं। किसीके कपूतको देखकर लोग अब भी कहा करते हैं—'रतनसेठ तो संतानकी इच्छा लेकर स्वर्ग सिधार गये और अब देखो, यह कपूत जन्मा है।

किसी कंजूसको उत्साहित करनेके लिये लोग कहते हैं—थोड़ी देरके लिये तो बन जा 'रतनसेठ'।

कराल काल उनके पार्थिव शरीरको तो नष्ट करनेमें समर्थ हो गया, परंतु उनका कीर्ति-कलेवर उसके मिटाये नहीं मिट सका।

आप इस संसारको छोड़कर संवत् १९५१ में शिवलोक सिधारे।*

---

* ये संस्मरण मैंने अपने गोलोकवासी पूज्य पितामह श्रीपरमसुखदासजीके मुखारविन्दसे सुने थे। आपने सेठ साहबके फर्ममें गुमास्तेसे लेकर मुनीमके उच्चपदपर चालीस वर्षोंतक काम किया था। बादमें अकेला (बरार) में आपने अपना निजका कारोबार प्रारम्भ कर दिया था।

सत्यार्थी

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

'सत्य-सुन्दरीका दर्शन उसकी एकमात्र आकाङ्क्षा थी। जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंसे वह उसे पालता-पोसता आ रहा था। इसी ललकसे वह लहकता रहता और इसी खब्तमें बहकता'।

सुबहसे शामतक पागल-सा वह इसी धुनमें घूमता-फिरता और फिर रात-रातभर बैठा रह जाता········ खोया-खोया-सा गुमसुम।

कब जागता, कब सोता—इसका कोई ठीक न था। पर जब जागता, तब यन्त्रवत् जुटा रहता अपनी साधनामें; और जब सोता, तब साध्यके सपने लेता।

पल-पल क्षण-क्षण करके काल दिन पूरे कर रहा था; चप्पा-चप्पा करके भूमि पाँव-तलेसे भागी-सरकी जा रही थी; और परतमेंसे परतमें उतरकर वह कारण-अकारणकी ओर अग्रसर हो रहा था।

पर यह सब होते हुए भी क्या हो रहा था? न होनेके नाते बहुत-कुछ सही, किंतु होनेके नाते कुछ भी तो नहीं।

× × ×

सत्य········सम्पूर्ण सत्य········अनावृत सत्यके दर्शन हों—यह उसकी अन्तर्लालसा थी। यों सत्यानुभूति किसे नहीं होती। सत्य प्रकट नहीं तो अप्रकट भी कब है। पर झाइयों········झाईं-माईं-सी झाँकियोंसे वह संतुष्ट न था। नकाब-घूँघट-परिधान-व्यवधान उसे पसंद न थे। नंगे-उघाड़े दर्शन!—उसका तो खब्त था।

× × ×

जाने कब, कहाँ, कैसे क्षोभ, खीझ और निराशाके आँसुओंमें 'मैं' गल गया और सहज सत्य देवी प्रसन्न हो गयी, करुण कटाक्षके मिस आँखें मचल पड़ीं और झीना-झलझला आवरण हट गया।

सुन्दरीकी अनुपम अछवि-सुछविकी स्पष्ट झाँकी हुई। आँखें रूपसे भर गयीं, साथ ही तेजसे झँप गयी—न, न, कसकर बंद हो गयीं।

× × ×

बालककी मोहिनी मूढ़तामें कहूँ अथवा तनिक तीखा बनकर गँवारके मीठे भौंदूपनमें, जाने कैसे वह चेष्टाकर खोल बैठा उन भरी आँखोंको।

सत्यसे भरी आँखोंमें उसने शायद स्वयं सत्यको भर लेना चाहा।

रूप गहरा-गहरा खुभा जा रहा था और तेज अत्यधिक गर्म हो-होकर फैल रहा था।

× × ×

कहाँ सुन्दरी थी, कहाँ दर्शनाकाङ्क्षी। राखका एक ढेरमात्र अवशिष्ट था। पर फिर भी दोनो ही थे भी।

राख राख न रहकर कण-कण पराग बन गयी थी और सुन्दरीके विराट् रूपने उसे आँखका अञ्जन करके सार लिया था।

× × ×

आती-जाती दुनियाका 'बाहर' नाना रूपोंमें बात बना रहा था—

'हो ली सत्यकी खोज! खब्ती कहींका! सत्यार्थी बना था। आखिर चल बसा न।'

और 'भीतर' सनकर एक हुआ अनुभूति कर रहा था—

'कुछ भी हो, पर था पहुँचा हुआ।'

× × ×

और उधर एकान्त टीलेपर अलग-अलग टिके मौन तत्त्ववेत्ता मुस्कराहटमें बोल बखेर रहे थे—

'अन्तर! ········नित्य छूमंतर। अन्तर कहाँ है? है भी तो केवल इतना कि सत्यार्थीने सत्य-सुन्दरीको आँखोंमें भरना-धरना चाहा और सुन्दरीने सत्यार्थीको ही नयनोंमें सार लिया।

सचमुच अन्तर है कहाँ! अन्तर! ············नित्य छूमंतर।

मनुष्य और यन्त्र

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

वैज्ञानिक अनिरुद्ध वर्माने जिस आश्चर्यजनक मनुष्यतामापक यन्त्रका आविष्कार किया था, उसकी शक्ल घड़ीकी तरह थी। घड़ीमें दो सूइयाँ होती हैं, लेकिन इसमें केवल एक ही सूई थी। घड़ीकी डायलपर जहाँ बारहका अङ्क रहता है, वहाँपर मनुष्यताकी सीमा-रेखाके लिये एक चिह्न बना हुआ था। उस सीमारेखासे सूई अगर दाहिनी ओर आगे बढ़ जाय तो उसमें मनुष्यता होनी चाहिये। इधर बायीं ओर सूईके खिसकनेपर मनुष्यताकी कमी सूचित होती थी। जितनी डिग्रीतक सूई पीछेकी ओर खिसकती जाय उतनी ही उसमें मनुष्यताकी कमी होनी चाहिये।

राष्ट्रिय हितके विचारसे यह कामके लायक आविष्कार था। सरकारने अपने कार्यालयोंमें व्यवहारके लिये इस यन्त्रको स्वीकार कर लिया। कारखानों और व्यापारके कार्यालयोंके लिये भी यह यन्त्र उपयोगी था। अब मनुष्यताकी भावनाकी वृद्धिको कौन रोक सकता है? अब उच्चकोटिके मनुष्य आगे आयेंगे, अब मनुष्यतासे हीन लोगोंकी कोई गुंजाइश नहीं होगी। संसार उन्नति करेगा।

अनिरुद्ध वर्माने इस यन्त्रके निर्माणके लिये एक कारखाना भी खोल दिया था। वहाँपर बड़े पैमानेपर यन्त्र तैयार होते और व्यापारी उन्हें उठा ले जाते। उस यन्त्रकी तमाम बिक्री हो रही थी।

कुछ दिनोंतक तो अच्छा काम चला, फिर ठप पड़ गया। अब उस यन्त्रकी बिक्री नहीं होती। कारखानेमें जो माल बनता, वहीं-का-वहीं पड़ा रह जाता। ऐसा लगता था जैसे व्यापारियोंको साँप सूँघ गया हो—वे आते ही नहीं थे। महीनों बीत जाते और एक ग्रोसका आर्डर भी नहीं आता। आखिर यह क्या हो गया? कर्जपर कर्ज, परेशानीपर परेशानी बढ़ती चली गयी। महाजनोंके तकाजोंसे नाकमें दम आ गया। आज अनिरुद्ध वर्माके समान कोई दुखी नहीं था। आज उसने ठान लिया था कि आज वह आत्महत्या कर लेगा और सदा-सर्वदाके लिये इस संसारसे विदा हो जायगा।

उसके शरीरका शूट अस्त-व्यस्त था। मूँछ और दाढ़ी बढ़ी हुई। देखनेसे ही पता लग जाता था कि यह कोई बदकिस्मतीका मारा हुआ आदमी है। चेहरेपर भयानक निराशा, जो आँखोंमें घनीभूत हो गयी थी। वह धीरे-धीरे यमुनाकी ओर जा रहा था कि अब फिर कभी नहीं लौटेगा।

कि एक आदमी उसकी ओर बढ़ आया और सहानुभूतिपूर्वक बोला—'आप बड़े दुखी मालूम होते हैं?'

'बहुत!' अनिरुद्ध वर्माने कहा।

उस व्यक्तिकी सहानुभूति गाढ़ी हो रही थी। उसने कहा—'मालूम होता है आप भी उसी मनहूँस वैज्ञानिकके सताये हुए हैं!'

'किसके?'—अनिरुद्ध वर्माको आश्चर्य हो रहा था।

'जिसने उस मनुष्यतामापक यन्त्रका आविष्कार किया है, वही अनिरुद्ध वर्मा। उसके उस यन्त्रने हजारों घर घाले। न कहीं किसीको नौकरी मिलती थी और न कोई किसीका विश्वास करता था। बेचारी बदनसीबी चारो ओर बढ़ती ही चली गयी।'

अनिरुद्ध वर्माके लिये यह आश्चर्यजनक समाचार था। उसने पूछा—'तब?'

'तब क्या अन्याय-अनाचार हमेशाके लिये चल

सकता है ?' उस व्यक्तिने कहा । 'ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं । तब दूसरे वैज्ञानिकोंने उसी तरहके दूसरे यन्त्रका आविष्कार किया । इससे सभी तरहके आदमियोंका काम चलता है । अब मुझे ही देखिये । जहाँ कामके लिये जाता था, वहींसे छाँट दिया जाऊँ । यन्त्र नहीं साहब, उस अनिरुद्ध वर्माने बदनसीबीका आविष्कार किया था । मगर अब ? यह देखिये, कितना अच्छा यन्त्र है ?'

उसने पाकेटसे यन्त्र निकाला तो वर्माने उसे उत्सुकतापूर्वक ले लिया । वर्माने कहा—'मैं भी कल-पुर्जोंको देखना थोड़ा-बहुत जानता हूँ । अगर मैं इस यन्त्रको खोलकर देखूँ तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी ?'

'नहीं-नहीं, आपत्ति क्यों होने लगी । मुझे क्या मालूम था कि आप कारीगर भी हैं । आप देखना चाहते हैं तो शौकसे खोलकर देखें ।'—उस व्यक्तिने बड़े आश्वस्तभावसे कहा ।

अनिरुद्ध वर्मा पेड़के नीचे बैठकर ध्यानपूर्वक उस यन्त्रको देख रहा था । बड़ी सफाईके साथ उसके यन्त्रकी नकल की गयी थी । वही मेक, वही नाम—वही सब कुछ । खोलकर जब भीतर देखा तो उसी तरहके सभी पार्ट-पुर्जे थे । केवल सिस्टम उलट दिया गया था । इससे यह होता था कि जो व्यक्ति मनुष्यतासे जितना अधिक विहीन था, वह उतना ही अधिक मानव मालूम पड़ता था ।

'छी: !' अनिरुद्ध वर्मा अपने-आपको धिक्कारने लगा । 'कहीं यन्त्रसे भी मनुष्यता मापी जा सकती है ? यन्त्र भला, मनुष्यको क्या माप सकते हैं । यह सिद्धान्त ही गलत है ।'

और उसने मन-ही-मन तय किया कि वह साधु हो जायगा । किसी ऐसे गुरुकी तलाश करेगा, जो उसकी आत्माके विकासमें उसका सहायक हो सकता है । वह उसका दर्शन करेगा, जो उसीके अन्तरमें बैठा हुआ है और उसे यन्त्रकी तरह चला रहा है ।

उस नकली मनुष्यतामापक यन्त्रको वापस करके अनिरुद्ध वर्मा धीरे-धीरे जाने लगा ।

पूर्ण प्रेम, पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तिमान् भगवान् मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ

भगवान्‌की विशेष कृपासे आज मैं चराचर अखिल विश्वमें जो भी दीखता है, 'इदं' रूपसे जो कुछ भी है, उस सबके रूपमें अपने भगवान्‌के मङ्गलमय दर्शन कर रहा हूँ; अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिके रूपमें उनका अनुभव करता हूँ और अपने परम स्नेही नित्य सुहृद्‌रूपमें मैं उन्हें पहचानता हूँ । मैं उनका हूँ; सर्वदा तथा सर्वथा उनका हूँ । उनकी कृपासे इस बातका मुझे अनुभव हो गया है ।

आज मैं अपने भीतर विशेष दिव्य जीवनका स्पन्दन अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि मांस, रुधिर और अस्थिसे अधिक मेरी सत्ता है । मेरा निर्माण भगवान्‌के सनातन शुद्ध अंशसे हुआ है; मैं अखिल जीवन, समस्त प्रेम और सम्पूर्ण मङ्गलमयताका एक सनातन अंश हूँ । इस रूपमें भगवान्‌के साथ अपने यथार्थ सम्बन्धकी अनुभूतिसे आनन्दमत्त हो रहा हूँ ।

भगवान् पूर्ण प्रेम, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शक्ति हैं । मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं ।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क, पृष्ठ ९९८ से आगे]

बहूरूपमें सावित्री

अबतक हम सावित्रीको एक रूपमें देखते आये हैं, अब दूसरे भावसे देखेंगे; क्योंकि सावित्री इतने दिनोंतक अविवाहित थी; अब विवाहिता स्त्री हो गयी है। अस्तु, अब हमारे देशकी कुललक्ष्मियोंको इससे विशेष शिक्षा लेनेका अवसर है। वे देखेंगी कि देव-द्विजोंकी अपूर्व भक्ति करनेवाली सावित्री यौवनावस्थामें पतिके घर आकर किस प्रकार पत्नीका कर्तव्य पालन करती है।

पतिके घर आकर सावित्रीने जो पहला काम किया, वह यह था कि पिताके दिये हुए अनेक रत्नालंकार उतारकर रख दिये। 'इतने दिनोंतक मैं राजकुमारी थी, अब तो वनवासिनी हूँ। वनवासिनीको इतने आभूषणोंसे क्या काम। मेरे पूज्य ससुर वनवासी हैं, सास वनवासिनी हैं, स्वयं पतिदेव सत्यवान् भी जटाजूट और वल्कल धारण करते हैं। ऐसी दशामें मेरा नाना रत्नालंकारों एवं आभूषणोंसे सज्जित रहना नितान्त अनुचित है।' यह विचारकर सावित्रीने सब आभूषणोंको उतारकर पतिकी तरह साधारण वल्कल-वस्त्र अपनी कमनीय देहपर धारण कर लिये। उसका यह अद्भुत आचरण देखकर वनके सभी ऋषि-मुनि उसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करने लगे। सावित्रीके सास-ससुर भी मुग्ध हो गये, पर साथ ही उन्हें कष्ट भी प्रतीत हुआ। प्रेम और करुणासे भरे हृदयसे वे सोचने लगे कि 'हाय, राजकन्याको आज हमारे यहाँ आकर इतना कष्ट भोगना पड़ रहा है। हम भी तो एक दिन राजा-रानी थे। आज हमारी वही दशा होती तो ऐसी सुशीला सावित्रीको पाकर इतना कष्ट क्यों होने देते।' यही सोच वे दुःखसे आँसू टपकाने लगे। मोतियोंके समान उनके आँसुओंकी बूँदोंने प्रणाम करती हुई चरणोंमें सावित्रीका मस्तक सींचकर उसका सदाके लिये कल्याण कर दिया। वैसे पवित्र आँसू, वैसे पवित्र आशीर्वाद आज हमारे देशमें कितने दुर्लभ हैं! हमारे समाजमें प्रायः कई धनी कन्याएँ निर्धनोंको ब्याह दी जाती हैं, पर वे अपने पिताके धन-धामका अभिमान छोड़कर ससुराल ही जाना कम पसंद करती हैं और जाती हैं तो सावित्रीकी भाँति निरभिमान होकर स्वामीके सौभाग्यमें ही अपना सौभाग्य नहीं समझतीं। यह शोचनीय दशा है। विशेष खेद तो यह है कि उनके माता-पिता अधिकांश इससे सहमत होते हैं। यह नितान्त अनुचित है। प्रशंसाके पात्र वे हैं, जो निर्धनसे नाता जोड़कर उसे अपने समान समझें और अपनी कन्याओंको प्रेरणा देकर दिखा दें कि पातिव्रतधर्म निभाना कितना आवश्यक है। अतः समस्त संसारके नर-नारियोंको सावित्रीके परम पवित्र चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सावित्रीके सम्पूर्ण आभूषण उतारकर रख देनेपर उसकी सासने कहा—'प्रिय बहू! तुमने राज-कन्या होकर भी ऐसा गरीबी वेष धारण कर लिया है, यह मुझसे नहीं देखा जाता। बेटी! हम तो बहुत दिवसोंसे इसी ढंगसे रहते हैं, हमारी तो चिन्ता ही क्या है; पर तुम एकदम ऐसा वेश बनाकर इतना कष्ट मत उठाओ। शरीरपर आभूषण पहिने रहो, ताकि हमारा चित्त देख-देखकर प्रसन्न होता रहे।' सावित्रीने सासकी इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, केवल अपने नेत्र नीचे कर लिये। पूज्य सास-ससुर वनवासी हैं, वल्कल धारण करते हैं, स्वयं पतिदेव जटा-जूट और वल्कल धारण किये रहते हैं—ऐसी दशामें सावित्री केवल अपने ही सुखकी बात कैसे मान ले! सासने बहुत कहा, समझाया-बुझाया, किंतु सावित्री मौन ही रही।

'इन तुच्छ अलंकारोंसे मेरा क्या होगा! इनके बदले तो आज मैंने जो अमूल्य अलंकार पाया है, उसीसे मुझे आनन्द है, सुख है और उसीसे मेरी शोभा है। इसी एक अलंकार (पति) को सदा पहिने रहकर मैं सुखी रह सकती हूँ, नहीं तो दुनियाभरके अलंकारोंसे भी मेरी शोभा नहीं बढ़ सकती!'

निस्संदेह अति उत्तम बात है। स्वामी ही स्त्रीका एकमात्र मङ्गलमय महामूल्य आभूषण है—अमूल्य धन है। जो स्त्री इसी धनपर, इसी अलंकारपर, इसी शोभापर सुरक्षित रूपसे अधिकार रख सकती है, वही सुखी है, वही सच्ची सौन्दर्यमयी है और वही सच्ची नारी है। और जो स्त्री इस अमूल्य रत्नकी—धनकी मर्यादा नहीं समझती, वह नारी होकर भी पशुके तुल्य है, आँख रहते भी अंधी है और हीरेको छोड़कर काँचके टुकड़ेको प्यार करती है। ऐसी

इसीसे हमारा और हमारे देशका कभी कोई कल्याण नहीं हो सकता।

यही नहीं कि सावित्रीने केवल गहने ही खोलकर रख दिये हों, बल्कि वह वनवासियोंके सत्सङ्गसे पूरी वनवासिनी बन गयी। पतिगृह जाते समय प्रायः मोहवश कन्याओंके नेत्रोंसे अश्रु-धारा बहने लगती है। हमारी देवी सावित्रीको भी यह सब हुआ होगा। पर जिस प्रकार वह कन्या-अवस्थामें माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषा तथा आज्ञापालनमें तत्पर रही, वैसे ही ससुरालमें आकर हम उसे किसी भी कर्त्तव्यको निभानेमें असावधान नहीं देखते। वह जानती है कि विवाहके बाद स्वामीका घर ही स्त्रियोंका एकमात्र सहारा है, स्वामी और सास-ससुरकी सेवा करना ही उनका मुख्य कर्त्तव्य है। जो रमणी यह बात नहीं समझती, उसे सावित्रीके चरित्रसे शिक्षा लेनी चाहिये।

राजकन्या सावित्री दरिद्र ससुरालमें आकर दो दिनमें ही अपने कर्तव्योंको समझ गयी और तदनुसार ही उत्साहके साथ सब कार्य करने लगी। यदि वह चाहती तो अतुल ऐश्वर्यके अधिपति पिताके घर कई दिनोंतक सुखसे रह सकती थी, पर सावित्री ससुरालमें आनेके पश्चात् एक दिनके लिये भी पिताके घर नहीं गयी। जिस दिन उसका विवाह हुआ, उसी दिनसे स्वामीके प्रेममें लीन हो गयी। सास-ससुरकी सेवा करना, आश्रमकी देखभाल करना, देवताओंकी पूजा करना और पतिका मनोरञ्जन करना—ये सब उसके नित्य-कर्म हुए।

सावित्री नित्य प्रातःकाल होते ही देवताओंका स्मरण करती हुई शय्या त्याग देती, पतिको प्रणाम करके आवश्यक कृत्यसे निवृत्त होती, फिर स्नान करके सास-ससुरके लिये फूल एकत्र करनेको सखियोंके साथ वनमें जाती। वहाँसे आकर, सास-ससुरकी पूजा समाप्त होनेपर भोजन बनाकर उन्हें खिलाती। सत्यवान् किसी दिन वनमेंसे लकड़ियोंका बोझा या किसी दिन फल-मूल आदि लेकर आता तो उसके बोझेको अपने हाथसे नीचे उतारकर पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती और फिर पतिको स्नान तथा भोजन कराकर अन्तमें आप थोड़ा-सा खा लेती। इसी प्रकार सावित्रीके दिन बीतने लगे।

दोपहरके पूर्व जब बालसूर्यकी किरणोंसे तपोवन हँस उठता, सत्यवान् जब हाथमें कुठार लेकर वनमें जाता, सावित्रीके सास-ससुर जब प्रियतमा पुत्रवधूके कष्टसे एकत्र किये हुए पुष्पोंके बीच अपने इष्टदेवको स्थापित करके उनकी आराधनामें मग्न रहते, उस समय सावित्री पुष्पमाला, आम्रपल्लव और देव-कलश लेकर घरसे दूर आश्रमके एक निर्जन स्थानमें जाती और वहाँ लता-पुष्पमण्डित घने वृक्षोंकी श्यामल छायामें बैठकर एकाग्र चित्तसे पतिकी मङ्गल-कामनाके लिये इष्टदेवकी आराधना करती थी। फिर वृद्ध दम्पतिकी पूजा-समाप्तिका तथा पतिके लौटनेका समय जानकर तुरंत आश्रमको लौट आती थी। सावित्रीके मनकी बातें मनमें ही रहती थीं, कोई भी उन्हें नहीं जान पाता था।

दोपहरके बाद जब ऋषि-बालक एकत्र होकर वेद-गान करते, तब सावित्रीके विश्रामका समय होता था। उस समय वह अपने प्राणोंको भूलकर उन ऋषिबालकोंमें केवल सत्यवान्की ओर देखती रहती थी। विवाहके पहले एक दिन जिस पवित्र मुखमण्डलको देखकर सावित्री जगत्को भूल गयी थी, उसी पवित्र मुखमण्डलको नित्य प्रति देखकर भी तृप्त नहीं होती थी। प्रतिदिन अनिमेष नेत्रोंसे उसी मुखमण्डलकी ओर देख-देखकर एक अपूर्व आनन्दसे उसका मुखमण्डल उज्ज्वल हो उठता था। उस आनन्दका यथावत् वर्णन करनेमें हमारी लेखनी असमर्थ है। हाँ, यदि हमारी कोई भी विदुषी-पाठिकाएँ कभी अपने पतिका मुखारविन्द देखकर जगत्को भूल जाती होंगी तो वे अवश्य ही इसे भलीभाँति समझ लेंगी।

किंतु इतना करके भी—इतने आनन्दमें भी सावित्रीके मनमें एक बड़ी भारी चिन्ता लगी रहती थी वही मुनिवरकी भयानक बात—'ठीक एक वर्षके बाद अमुक दिन, अमुक समय सत्यवान्की मृत्यु हो जायगी!' हा, कैसी भयंकर बात है! ऐसे पति, ऐसे सास-ससुर, ऐसी सुख-शान्ति; जिसकी बराबरीवाला सुख सावित्री संसारभरमें खोजनेपर भी नहीं पा सकती, एक सालके बाद एकदम श्मशानमें परिणत हो जायगा! विधाताका क्या ही विकट लेख है! सावित्री खाती-पीती है, काम-काज करती है, पतिका मुख देखकर अपनेको भूल जाती है; तो भी उसे निर्भय शान्ति नहीं मिलती। सब सुखोंके बीच वही चिन्ता लगी रहती है, किसी भाँति भी उस बातको वह नहीं भूल पाती।

सावित्री दिनभर काम करती, रातको जगकर पतिके मुख-की ओर देखती रहती और दोनों हाथ जोड़कर भगवान्से

प्रार्थना करती—'हे भगवन्! मुझे इस विपद्से बचाओ। मैं अति व्याकुल होकर भिक्षा माँगती हूँ कि मेरे स्वामीका जीवन प्रदान करो। केवल यही एक मेरी भिक्षा है। इसके बदले चाहे मेरा सर्वस्व ले लो, परंतु मेरे स्वामीका जीवन प्रदान करो। यदि स्वामी जीवित नहीं रहेंगे तो मैं भी जीवित नहीं रहूँगी और मेरे सास-ससुरका जीवन भी नहीं रहेगा। मेरा ऐसा सुख-संसार एक बार ही नष्ट हो जायगा। अतः हे प्रभो! मुझे इस सुखसे वञ्चित मत करना—मेरी रक्षा करना। आपके सिवा मेरा कौन रक्षक है, आप सर्वसमर्थ हैं। असम्भव बातको भी सम्भव कर सकते हैं। आपकी जय हो।'

सावित्री रोती हुई इसी भावसे देवताओंकी प्रार्थना करती रहती। आँसुओंके लगातार गिरनेसे उसके वल्कल-वस्त्र भीग जाते और बीच-बीचमें निद्रित सत्यवान्‌के वक्षःस्थलपर भी आँसुओंकी दो-एक बूँदें पड़कर चाँदनीके प्रकाशमें मोतियोंके समान चमकने लगतीं; पर उद्भ्रान्त सावित्री यह हाल नहीं जान पाती और निद्रित सत्यवान् भी नहीं जान सकता था। इसी भाँति उनकी रातें व्यतीत होती थीं।

प्रातःकाल उठकर वन जाते समय जब सत्यवान् पुकारता—'सावित्री!' तब सावित्री उसकी ओर निहारकर सब भूल जाती, सोचने लगती कि हाय, क्या ऐसे स्वामी भी मुझे छोड़ जायँगे? क्या यह सम्भव है? किंतु फिर धैर्य धारण करके अपना काम करने लग जाती। इतनी भारी चिन्ताके बीच भी सावित्रीने अपने कर्त्तव्य-कार्यमें तनिक भी कमी नहीं होने दी और न मुखपर कभी कोई उदासीका भाव आने दिया! मजाल क्या कि सत्यवान् या सास-ससुर यह बात जान जायँ। और ज्ञात कराकर भी व्यर्थ क्यों उन्हें दुखी किया जाय। इसीसे सावित्रीने इस रहस्यकी कोई भी बात प्रकट नहीं होने दी। जब अकेलेमें सावित्रीको अधिक दुःख व्याप्त होता, तब वह पड़ोसकी मुनि-पत्नियों तथा मुनि-बालिकाओंके पास जाकर अनेक धर्मकथाएँ सुनने लग जाती थी। दुःखमें फँसे हुए लोगोंके लिये धर्म-चर्चाएँ सुननेके बराबर दूसरा कोई मित्र नहीं है, इसीसे आत्मसंतोष होता है। इसीलिये सावित्री धर्मालोचना करते-करते अपना सब दुःख भूल जाती थी, उसकी आँखोंके आँसू प्रायः सूख जाते थे।

इसी प्रकार सावित्रीका पत्नी-जीवन व्यतीत होने लगा।

सावित्रीका वर-लाभ

इस बार हम सावित्रीके जीवनका सबसे प्रधान अंश उपस्थित करते हैं। इसी अंशमें सावित्रीके चरित्रकी सच्ची महिमा है, सच्ची शक्ति है और सच्चा तेज भरा हुआ है। सावित्री अपने तेजोबलसे जो अपूर्व और अलौकिक कीर्ति छोड़ गयी है, उसकी समानता संसारभरके इतिहासमें कोई नहीं करता। सतीकी महिमा कितनी शक्तिशालिनी होती है, कितनी उज्ज्वल होती है, सतीका तेज कितना प्रचण्ड होता है—ये सब बातें आपको इसी अंशमें पढ़नेको मिलेंगी।

सावित्रीका बिवाह हुए प्रायः एक साल बीतनेको आया है, कुछ ही दिन शेष है। सावित्री बहुत ही चञ्चल हो उठी है। अब सावित्रीकी इस चञ्चलताका भाव किसीसे छिपा नहीं रहा। ऐसी शान्त, शिष्ट और बुद्धिमती वधूको कभी-कभी बड़ी उदास और भ्रममें पड़ी हुई देखकर उसके सास-ससुरने उससे इसका कारण पूछा। पर सावित्री क्या उत्तर दे! क्या वह सत्यवान्‌की मृत्युसम्बन्धी बात कहकर वृद्ध दम्पतिको दुःखित कर सकती है? कदापि नहीं। इसीसे उसने कोई उत्तर नहीं दिया, मौन रही।

सावित्रीका शरीर दिनोंदिन सूखने लगा। उसको दिनोंदिन मलिन-मुख और निर्बल होते देखकर एक दिन सत्यवान्‌ने उसकी ओर निहारते हुए कहा—'सावित्री! यह क्या! तुम दिनोंदिन इतनी दुर्बल क्यों होती जा रही हो? ज्ञात होता है राजकन्या होकर यहाँ वनवासमें तुम्हें अनेक कष्ट सहने पड़ रहे हैं, इसीसे तुम्हारी यह दशा हुई है। किंतु अब इतना परिश्रम मत करो। तुम्हारा मुखमण्डल देखकर मुझे भय लगता है।'

सत्यवान्‌की बात सुनकर सावित्रीके नेत्रोंमें आँसू भर आये। हाय, सत्यवान् जानता नहीं कि उसके भयसे सावित्री-के मनमें कितना अधिक भय है! सावित्रीने मुँह फेरकर आँसू पोंछे और फिर कहा—'प्रियतम, आपकी सेवा-शुश्रूषा न करनेपर मेरा शरीर और भी दुर्बल हो जायगा। आप मेरी चिन्ता न करें। मेरी पीड़ाका दूसरा ही कारण है। मैंने कोई कठिन व्रत धारण किया है। कलसे मैं तीन दिनतक उपवासी रहकर इस व्रतको समाप्त करूँगी। उसके बाद और कोई कष्ट नहीं रहेगा। आप पूज्य सास-ससुरजीसे मेरी यह बात कह दें।'

सावित्री प्रायः बहुत-से व्रत-उपवास किया करती थी,

इसलिये सत्यवान्‌ने सावित्रीकी उपर्युक्त बात मान ली। पर, तीन दिनतक लगातार उपवास! यह तो बड़ा ही कठिन विषय है। एक तो सावित्रीके शरीरकी ऐसी दुर्बल दशा, तिसपर इस प्रकारका लंबा लङ्घन! सत्यवान्‌ने सावित्रीसे यही बात कहकर उसे पराजित करनेकी चेष्टा की, पर सावित्रीने उसकी बात हँसीमें उड़ा दी और अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके सत्यवान्‌की स्वीकृति चाही। बाध्य होकर सत्यवान् सहमत हो गये।

सत्यवान्‌ने माता-पितासे सावित्रीके इस कठोर व्रतकी बात कही। सुनकर वे बड़े भयभीत हुए। किंतु द्युमत्सेन परम धार्मिक थे। उन्होंने देवताके काममें कभी किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली, फिर वे सावित्रीको इस पुनीत कार्यसे कैसे रोक सकते थे। अन्तमें वे राजी हो गये। सासने भी अधिक आपत्ति नहीं उठायी। दोनोंने इस ख्यालसे भी आज्ञा दे दी कि सावित्री सत्यवान्‌के कल्याणके निमित्त ही व्रत करती है। अतः सावित्री निश्चिन्त हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उठकर सावित्रीने सब देवताओंकी अन्तःकरणसे प्रार्थना की। फिर पवित्र जलसे स्नान किया और सास-ससुर तथा सत्यवान्‌को प्रणाम करके यथासमय व्रत आरम्भ किया। ओहो! यह व्रत कितना कठोर है। इसकी कठोरताका वर्णन कैसे किया जाय। ऐसे व्रतसे, ऐसी एकाग्रतासे, ऐसी निष्ठासे, ऐसे घोर परिश्रमसे प्रार्थना करनेपर देवताओंका आसन क्यों न डिगेगा? हम सच्ची प्रार्थना करना नहीं जानते, इसीसे तो देवताओंको प्रसन्न नहीं कर पाते और उनका आशीर्वाद प्राप्त करनेसे वञ्चित रहते हैं। देखिये, सावित्री कितने गाढ़े मनसे आराधना कर रही है। उसकी बाहरी प्रकृति, ज्ञात होता है, छिप गयी है। उसका मन मानो जड देहको छोड़कर बल-संचय करनेके हेतु बहुत दूर चला गया है। देखो, उसके नेत्र आँसुओंसे भरे हैं, अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्थिर है, निश्वास-प्रश्वास छिपे-से जान पड़ते हैं। अवश्य यही सच्ची साधना है।

धन्य सावित्री! धन्य! नारीकुलमें तुम ही धन्य हो। हमारी आन्तरिक कामना है कि तुम्हारी इस पवित्र एकाग्रता, कर्तव्यनिष्ठा और पावन पति-भक्तिसे जगत्‌की समस्त ललनाओंका अन्तर्मन पुनः आज जाग उठे। तुम्हारे उस पुण्यमय युगके बाद भी हम इस कलिकालके घोर अन्धकारमें फिर एक बार अपने घरोंमें तुम्हारी-जैसी परम पुनीत देवियाँ देखकर धन्य हों।

धीरे-धीरे एक दिन, दो दिन करके व्रतके तीनों दिन बीत गये। चौथे दिन सावित्रीने स्नानादि करके व्रत समाप्त किया। उसी दिन तीसरे पहरके बाद जब सूर्यभगवान् पश्चिम दिशामें जा रहे थे, सत्यवान् जब आश्रमकी एक बगलमें कुठार लिये खड़ा था, ठीक इसी समय सावित्री एक उज्ज्वल और अपूर्व तेजोमण्डित मूर्ति-सी दुर्बल शरीरसे बाहर निकली। उसके उज्ज्वल नेत्र और निर्बल शरीरको देखकर सत्यवान् स्थिर नेत्रोंसे उसकी ओर देखने लगा। अहा, क्या ही अद्भुत देवी-मूर्ति है। सत्यवान्‌ने सोचा, 'ज्ञात होता है, सावित्री मानवी नहीं, देवी है। इसके चारो ओर मानो देवत्वका तेज फूटकर निकल रहा है।' सत्यवान् उस समय कुठार हाथमें लेकर रात्रिके लिये लकड़ी और फल-मूल लानेको वनमें जाना चाहता था। ऐसे समय सावित्रीकी विमल कान्ति देखकर वह बहुत देरतक उसकी ओर देखता ही रहा।

सत्यवान्‌को इस तरह अपनी ओर निहारते हुए देख, सावित्रीने धीरे-धीरे पास आकर उसका कोमल हाथ पकड़ लिया और कुठार देखकर हठात् उद्वेगपूर्ण कण्ठसे बोली—'प्रियतम! कहाँ जाते हो? संध्या होनेको आयी है, इस समय कुठार हाथमें क्यों लिया?'

सावित्रीका व्यग्रभाव देखकर सत्यवान्‌को और भी आश्चर्य हुआ। वह सावित्रीकी ओर अवाकदृष्टिसे देखने लगा। सावित्री उसकी अवाक्‌दृष्टि देखकर कुछ हँसी। पर उसके उद्वेगपूर्ण मुखके विषाद-भावके साथ मिलकर वह हँसी कुछ अपूर्व ही हो उठी। ऐसी ही दशा पहले भी कई बार होती देखकर सत्यवान् बोला—'सावित्री, तुम वी हो या मानवी? तीन दिन उपवासी रहकर तुमने व्रत-नेम सम्पन्न किया है; अब तो जाकर भोजन करो, व्रत तो समाप्त हो ही चुका है।' सावित्रीने कहा—'नहीं प्रिय, प्रातःकाल हुए बिना मैं कुछ भी नहीं खाऊँगी। मुझे तो कोई कष्ट है ही नहीं, फिर आप इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं? अब कहिये, आप कहाँ जा रहे हैं।'

'घरमें काष्ठ नहीं है, फल-मूल भी नहीं है; बताओ, खायँगे क्या? इसीसे वनको जा रहा हूँ।' सत्यवान्‌ने कहा।

सावित्री व्याकुल हुई; किंतु उसने सत्यवान्‌पर उस व्याकुलताका भाव प्रकट नहीं होने दिया। कुछ हँसकर बोली—'ऐसे समय आप वनमें जायँगे? यह नहीं होगा। अच्छा सुनिये, मैं तो खाऊँगी नहीं; और जो भोज्य-पदार्थ रखा है,

वह आपके लिये पर्याप्त होगा। पूज्य सास-ससुरजी उपवासी हैं। फिर वनको जानेका क्या प्रयोजन है ? आपको मेरी शपथ है, आज कहीं भी न जाइयेगा।'

सावित्रीकी बात सुनकर सत्यवान् अब और भी अधिक आश्चर्यमें पड़ गया। कितनी ही देरतक वह विस्मित नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखता रहा। आश्चर्यकी बात यह है कि सावित्रीने पहले कभी सत्यवान्‌को कोई काम करनेसे इस प्रकार नहीं रोका था। फिर आज उसका ऐसा भाव क्यों है ?

सत्यवान्‌ने उत्तर दिया—'हमारे भोजनकी कोई चिन्ता नहीं है, परंतु काष्ठके बिना माता-पिताके होम-यज्ञ नष्ट हो जानेका डर है; इसलिये मुझे अवश्य ही जाना होगा।'

बाध्य होकर सावित्री इस कामसे सत्यवान्‌को न रोक सकी। सास-ससुर उपवासे रहें, स्वामी भूखे रहें, देवताओंका काम रुका रहे—ऐसी परिस्थितिमें वह सत्यवान्‌को किस प्रकार रोक सकती थी। अन्तमें उसने बाध्य होकर एक प्रस्ताव मनमें स्थिर करके कहा—'मैं भी आपके साथ वनको चलूँगी। मैंने कई दिनोंसे वन नहीं देखा है, इस समय वनकी शोभा बड़ी अपूर्व होगी। मुझे वही वन-शोभा देखनेकी प्रबल इच्छा हो आयी है। कृपया आप मेरी यह इच्छा पूर्ण कीजियेगा।'

'यदि अस्वीकार करूँगा तो चलेगा नहीं। पर सावित्री बड़ी दुर्बल है, तीन दिनोंतक भूखी रही है; आज भी अबतक इसने कुछ खाया नहीं है। ऐसी निर्बल दशामें इसे कैसे साथ ले चलूँ ?' यों विचारकर सत्यवान्‌ने वनके कष्ट बताकर सावित्रीको रोकना चाहा। किंतु सावित्रीने इसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और बार-बार वही कातर प्रार्थना करने लगी। कोई उपाय न देखकर सत्यवान्‌ने उसे साथ ले चलना स्वीकार किया।

सत्यवान्‌द्वारा प्रार्थना स्वीकृत हो जानेपर सावित्रीने सास-ससुरके पास जाकर वन जानेकी आज्ञा माँगी। सुनकर वृद्ध-दम्पति अवाक् रह गये, सोचने लगे—'यह त्रिरात्रि-व्रतका भयानक परिश्रम, अनाहार, इसपर भी संध्या-समय वन जानेका आग्रह ! इसका अभिप्राय क्या है ? ज्ञात होता है, सावित्री पतिकी चिन्ता करते-करते पगली हो गयी है। नहीं तो, कभी इसने ऐसी प्रार्थना नहीं की और न आजतक एक दिन भी आश्रमसे बाहर निकली। तो फिर आज ऐसे असमयमें वन जानेकी प्रार्थना क्यों करती है ?' फिर वृद्ध दम्पतिने समझा कि सती-साध्वी पुत्रवधू स्वामीकी मङ्गलकामनाके लिये ही यह याचना कर रही है। तब पुत्रकी मङ्गलकामना और पुत्रवधूके सच्चे आग्रहने उनके मनको एक बार ही अभिभूत कर डाला। इन दोनों स्रोतोंके प्रवाहमें उनकी शङ्काके कारण एक-एक करके न जाने कहाँ बह गये। अतएव उन्होंने भी आशीर्वाद देते हुए सावित्रीको विदा किया।

सावित्री व्रत समाप्त करके स्वामीके साथ वनको जा रही है। सम्मुख चतुर्दशीकी भयानक अँधेरी रात है। कौन जाने आज इस घोर रात्रिमें सावित्रीको वहाँ क्या-क्या अभिनय करने होंगे ! सावित्रीने जाते समय सब देवताओंकी खूब प्रार्थना कर ली है और उस वनके सब ऋषि-मुनि और उनकी पत्नियोंको प्रणाम कर आयी है। जितने बड़े-बड़े ऋषि-मुनि—जैसे अङ्गिरा, माण्डव्य, गौतम आदि उस वनमें निवास करते थे, सबने उसको 'सदा सौभाग्यवती रहो, बेटी' कहकर आशीर्वाद दिया है। सावित्री स्वामीकी जीवन-रक्षाके लिये आज भाग्यके साथ युद्ध करने जा रही है। ऐसे समयमें ये शुभाशीर्वाद उसे मानो एक शुभ दैववाणी और देवदत्त धर्मके समान जान पड़े। ऋषि-मुनियोंके इन आशीर्वादोंको एक अक्षय कवचरूपमें धारण करके सावित्री पतिके साथ वनको जा रही है।

घोर गहन कानन है। उसीके बीचमें होकर वन जानेका मार्ग है। चारो ओर घने वृक्ष शाखाओं तथा लता-पत्रोंसे आच्छादित हो रहे हैं। वह शोभा बड़ी सुन्दर है—बड़ी भयानक भी। सौन्दर्य और भय दिखानेवाला दृश्य कैसा प्राण-स्पर्शी होता है, यह क्या आप-हमने कभी देखा है ? यदि नहीं तो वह बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आयेगी। फिर भी देखिये—शान्त वन है, चारो ओर हिंसक जंतु हैं, संध्याका आगमन चारो ओर अन्धकार जमा रहा है। उसी अन्धकारमें केवल तारोंकी चमकके सहारे सावित्री, सत्यवान् एक दूसरेका जोरसे हाथ पकड़े हुए जा रहे हैं। अँधेरेमें भी प्रकृतिकी अपूर्व छटा उन्हें कुछ-कुछ दीख जाती है। उसी अन्धकार-राशिके बीच लताओंके पुष्प, पत्तोंकी श्यामल शोभा, शाखाओंपर बैठे हुए पक्षी आदिका शोभनीय दृश्य, सत्यवान् कुठार कंधेपर लिये हुए हाथ उठा-उठाकर सावित्रीको दिखाता जा रहा है।

किंतु सावित्रीकी आँखें आज किसी शोभाको नहीं देखतीं। सत्यवान् दिखाता है, सावित्री जोरसे हँसती है, आँख उठाकर कभी देखती भी है; परंतु कुछ भी आनन्द

नहीं लूट सकती। कभी-कभी तो सत्यवान्की बातोंकी ओर ही उसका ध्यान नहीं रहता था। सत्यवान् एक ओर दिखाता था, सावित्री उदासभावसे दूसरी ओर ही देखती रहती थी। सत्यवान्ने क्या कहा, यह भी उसे मालूम नहीं हो पाता था।

सत्यवान् कहता है—'प्रिये, देखती हो, कैसा सुन्दर फूल है?'

सावित्री देखकर कहती है—'हाँ प्रियतम, देखती हूँ।'

सत्यवान्ने कहा—'अच्छा, कहो तो उसका क्या रंग है?'

अन्धकारमें पक्षीका रंग अच्छी तरह ज्ञात नहीं होता था, इसीलिये हँसीके साथ सत्यवान्ने सावित्रीसे यह बात पूछी थी।

सावित्री अभीतक तो केवल हाँ-हाँ करके ही चलती रही, पर अब बड़ी कठिनाई आ गयी; उत्तर क्या दे? उसका मन तो पक्षीकी ओर था ही नहीं! उस समय सावित्री सत्यवान्को जोरसे पकड़े हुए थी। अपने हाथमें उसका हाथ लेकर—अँगुलियोंसे अँगुलियाँ मिलाकर काँपती हुई सोच रही थी—हाय, यह क्या अन्तिम मिलन है! फिर क्या ऐसा सुन्दर शरीर नहीं देखूँगी! यह अपूर्व रत्न क्या आज मुझे सचमुच ही इस घने जंगलमें हमेशाके लिये अकेली छोड़ जायगा?' इसी सोच-विचारमें सावित्रीने सत्यवान्की बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सत्यवान्ने सावित्रीके मुखकी ओर निगाह डालकर देखा। देखता है कि जैसे शरद्के स्वच्छ आकाशमें कहींसे प्रकाण्ड बादलका एक टुकड़ा घिर आया हो और चाँदनी रातमें चारो ओरसे घिरे हुए बादलोंके बीचमेंसे चन्द्रमा-जैसे बलपूर्वक अपनी किरणोंको फैलाकर प्रकृतिको हँसाना चाहता हो, पर सफल न हो पाता हो, ठीक वैसे ही सावित्री भी जोरसे हँसना चाहती है, पर किसी प्रकार भी अपना विषाद-भाव छिपा नहीं पा रही है।

सत्यवान्ने सावित्रीका यह अपूर्व भाव देखकर पूछा—'*सावित्री! तुमको क्या कष्ट हो रहा है? मैंने तो पहले ही कहा था कि ऐसे दुर्बल शरीरसे वनगमन-जैसे कठिन काममें हाथ मत डालो; परंतु तुमने तो माना ही नहीं! क्यों?*'

सत्यवान्की बात सुनकर सावित्री चौंक उठी। समझा, क्या पतिदेवने मेरे उदासभावको जान लिया है! क्या मैं असावधान रहकर पतिको पीड़ित कर सकती हूँ! कदापि नहीं। सावित्रीने तुरंत अपनेको सावधानीके साथ सम्हाला और यथासम्भव दृढ़ताके साथ बोली—'नहीं प्रियतम! आपके साथ भ्रमण करनेसे मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हो रहा है। आपके साथ भ्रमण करना तो मेरे लिये स्वर्ग है! ऐसा दिन और कब आयेगा? आप किसी प्रकारका सोच-विचार न करें और आनन्दके साथ चलें।' बात कहते-कहते सावित्रीकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। पर सावित्रीने बड़े कष्टसे अपनेको सँभाल रखा था।

इस समय वे एक भीषण वनमें जा रहे हैं। संध्या समाप्त होकर रात हो गयी है। तारोंका प्रकाश अभी अच्छी तरह वनमें नहीं फैला है। चारो ओर भीषण घना अन्धकार जम गया है। सामने बहुतसे फल-फूलोंके वृक्ष और थोड़ी ही दूरपर जलानेकी लकड़ियोंका जंगल है।

सत्यवान्ने सावित्रीको कष्ट होता जानकर जल्दी ही वृक्षोंसे फल-मूल इकट्ठे कर लिये! इसके बाद उन सबको एक वृक्षके नीचे रखकर वह जलानेकी लकड़ी काटनेके हेतु कुठार हाथमें लेकर एक वृक्षपर चढ़ा। इस समय सावित्रीका समस्त शरीर एकाएक मानो कुछ फड़क उठा। हृदय एक अज्ञात आशङ्कासे किंचित् चञ्चलता प्रकट करने लगा और दाहिनी आँख फड़क उठी। सावित्री उद्वेग और आशङ्का लिये हुए चुपचाप उसी वृक्षकी जड़पर बैठकर सत्यवान्की प्रतीक्षा करने लगी।

सत्यवान् वृक्षपर चढ़कर लकड़ी काटनेमें उद्यत हुआ। कुठारसे एक सूखी डालपर चोट लगायी। एक चोट, दो चोट, तीन चोट मारी। सावित्री नीचे बैठी हुई एकाग्र मनसे इन चोटोंका शब्द सुनने लगी। हरेक चोटके साथ-ही-साथ मानो उसके हृदयकी एक-एक नस नाचने लगी। किंतु तीसरी चोटके बाद सावित्रीने और कोई शब्द नहीं सुना। एक पल, दो पल, तीन पल बीत गये, धीरे-धीरे बहुत देर हो गयी। सत्यवान् क्या कर रहे हैं, यह सोचकर *सावित्री बहुत ही व्याकुल हुई और भर्राये कण्ठसे पुकारने लगी—'प्रियतम, प्रियतम!'*

सत्यवान्ने दुःखसे उत्तर दिया—'सावित्री, सिरमें बड़ा दर्द है!'

'क्या सर्वनाश हुआ चाहता है? ज्ञात होता है, समय

आ गया ! सावित्रीने कम्पित स्वरसे कहा—'प्यारे, जल्दीसे नीचे उतर आओ, देर मत करो; अब वृक्षपर रहनेका काम नहीं है। आपको मेरी शपथ है, शीघ्र ही नीचे उतर आइये।'

परंतु सत्यवान् नीचे नहीं उतरा। सावित्रीने फिर पुकार मचायी। सत्यवान् बोला—'प्रिये, वनमें हम काष्ठ लेने आये हैं; यदि काष्ठ नहीं ले चलेंगे तो माता-पिताका काम कैसे चलेगा ?' सत्यवान् असली बात नहीं जानता था। इसीलिये सोचने लगा, 'सिरमें दर्द कितनी देरतक रहेगा, अभी मिटा जाता है।' पर सावित्री तो सब जानती थी, तभी तो उसने अपनी सौगंध दिलायी !

अन्तमें सत्यवान् दर्दसे घबराकर नीचे उतरा, पर उतरते ही सावित्रीकी गोदमें मूर्च्छित होकर गिर गया। (क्रमशः)

कर्तव्य-विज्ञान

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

प्रायः अशिक्षित ही नहीं, शिक्षित बुद्धिमान् मनुष्य भी पूर्णरूपसे कर्तव्य-विज्ञानका यथोचित आदर नहीं करते; इसीलिये वे जिस अनुकूलताको अनेक प्रयत्नसे सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसे रख नहीं पाते तथा जिस प्रतिकूलताके दुःखसे सदा बचते रहना चाहते हैं, उससे बच नहीं पाते। वर्तमान युगमें जिस किसी व्यक्तिको देखा जाय, वही वस्तुविज्ञान, प्रकृतिगत गुणविज्ञान तथा भोगविज्ञानको अधिक महत्त्व दे रहा है; पर जिससे जीवन सुन्दर होता है, सुन्दर समाजका निर्माण होता है, क्षेत्र सुव्यवस्थित होता है तथा जीवनमें निर्भयता-निश्चिन्तता प्राप्त होती है, उस कर्तव्य-विज्ञानको धारण करनेके लिये विरले ही व्यक्ति सावधान हैं। जो मानव पापों और अपराधोंसे बचना चाहता है, भय-चिन्तासे मुक्त होना चाहता है और अपने बनाये दोषों तथा दुःखोंका अन्त करना चाहता है, उसे विवेकपूर्वक कर्तव्य-विज्ञानको सदा स्मरण रखना चाहिये।·······कर्तव्य-विज्ञानके द्वारा योग-विज्ञानमें तथा योग-विज्ञानके द्वारा अध्यात्म-विज्ञानमें क्रमशः प्रवेश अनायास ही होता जाता है।

कर्तव्यनिष्ठ मानव अनित्य सुखका भोगी न रहकर शाश्वत सत्यका योगी होता है। कर्तव्यपरायण मानवमें त्याग तथा दानका संकल्प सरलतासे पूर्ण होता है, इसीलिये वह रागरहित तथा लोभ-मोह-अभिमान एवं अधिकार-प्राप्तिकी कामनासे रहित होकर सेवा करता है। जो मनुष्य कर्तव्यपालनमें सावधान नहीं है, उसकी शक्ति, योग्यता तथा सामर्थ्य न करने योग्य कार्योंमें नष्ट होती रहती है। जो कर्तव्यविमुख है, वही अकर्तव्यमें आबद्ध है; अकर्तव्यमें संलग्न मनुष्य भयरहित, चिन्तारहित तथा आशा और बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यपालन करनेमें सदा स्वतन्त्र है। कर्तव्य वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो अथवा जो वर्तमानमें ही पूर्ण हो सकता हो तथा जो किसीके लिये अहितकर न होकर अपने लिये हितकर हो। जो मानव दूसरेके, अथवा जिस किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध है, उसके अधिकारका ज्ञान रखते हुए अपने कर्तव्यका ध्यान रखता है, वही कर्तव्यनिष्ठ है। एक मनुष्यका सम्बन्ध उसी वस्तु या व्यक्तिसे हो जाता है, जिसे वह देखता है तथा मानता अथवा जानता है, और जिसे भी वह देखता है, मानता या जानता है, उसीके प्रति उसका कर्तव्य निश्चित हो जाता है। कर्तव्य-विज्ञान मानवको वहींसे कर्म कराना सिखाता है, जहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता है; वह केवल अपना कर्तव्य देखते रहनेके लिये सावधान करता है। अपने कर्तव्यको पूर्ण करनेके लिये सदा

तत्पर रहनेवाला मानव जिसे भी देखता, मानता तथा जानता है, उसके हितके लिये—उसका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेके लिये जो कुछ भी कर सकता है, उसमें आलस्य नहीं करता है, बीचमें प्रमाद नहीं आने देता है। कर्तव्य-पालन वही विवेकी मानव कर सकता है, जो प्राप्त अधिकार-वस्तु तथा सम्बन्धित व्यक्तिका क्रमशः अभिमानी, लोभी तथा मोही न हो। कर्तव्य-विज्ञानको आत्मसात् करनेके लिये बुद्धि विवेकपूर्ण होना ही चाहिये। बुद्धिको विवेकवती बनानेके लिये अपने धर्मशास्त्रोंका अध्ययन-मनन अथवा श्रवण करना चाहिये। विवेक बढ़ानेके लिये गुरुजनोंका सङ्ग और श्रद्धापूर्वक सेवा सुन्दर साधन है। विवेकके द्वारा कर्तव्य—करनेयोग्य कर्मका ध्यान रखते हुए न करने योग्य कर्मका भी ज्ञान रखना अत्यावश्यक है। कर्तव्यकी पूर्णता अकर्तव्यके त्यागसे ही हो सकती है।

जिस कर्म या भावनासे अथवा संकल्प या विचारसे किसीका अहित होता है वही अकर्तव्य है—न करनेयोग्य कर्म है। शरीरके बलद्वारा अपनी रुचि-पूर्तिका पक्ष लेकर लोभ-मोह-अभिमान-कामवश हिंसा-चोरी-व्यभिचार तथा दुराचार करना अकर्तव्य है। इसी शरीर-बलद्वारा निर्बलकी रक्षा करना, सेवा-सहायता करना तथा उदारतापूर्वक सदाचारका पालन करना कर्तव्य है। वाणीद्वारा असत्य बोलना, परनिन्दा करना, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ बात करना तथा अपनी प्रशंसा करना अकर्तव्य है। इसी वाणीद्वारा सत्य-चर्चा करना, किसीमें दीखनेवाले गुणोंका वर्णन करना, प्रिय-मधुर वचन बोलना, भगवत्-कथा-चरित्रका गान करना कर्तव्य है। मनके द्वारा बीती घटनाओंका मनन करना तथा ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और प्रमाद-युक्त प्रवृत्ति अकर्तव्य है; इसके विपरीत मन लगाकर वर्तमानके आवश्यक कार्य पूर्ण करना तथा प्रीतिपूर्वक उदारता, दया, क्षमा आदि सद्गुणयुक्त प्रवृत्ति कर्तव्य है।……अकर्तव्य—न करने योग्य अहितकारी प्रवृत्ति और भोगमें आबद्ध होनेसे ही मनुष्य प्रमादी और हिंसक बन गया है। अकर्तव्यके त्यागसे ही मनुष्य अहिंसक—परमार्थी हो सकता है। कर्तव्यनिष्ठ मानवकी विशेषता यही है कि दूसरे व्यक्ति उसे देखकर स्वयं ही कर्तव्य-पालन करने लगते हैं। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये मानवमें विवेककी जागृति अत्यन्त आवश्यक है। विवेकके बलसे अपने कर्तव्यमें दृढ़ रहनेके लिये मानव बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको सहन कर लेता है, वह प्रलोभनोंसे विचलित नहीं होता। यद्यपि विवेक अनन्तकी कृपासे सभीके लिये सुलभ है, तथापि जो ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त हैं, क्षुधासे पीड़ित हैं, कामी तथा अहंकारविमूढ़ बुद्धिवाले हैं, उनमें विवेक नहीं होता।

अविवेकीके सामने प्रतिदिन अनेक शोक-भय-चिन्ताके अवसर आते रहते हैं, पर विवेकीके मनमें वे स्थान नहीं पाते। कर्तव्यका विवेक होनेके लिये ही गुरु, ग्रन्थ और घटनाओंके पीछे रहनेवाले परिणामके दर्शनकी आवश्यकता है। जिस प्रयत्नसे आत्माके गुण विकसित हों, वही नित्य स्मरणीय कर्तव्य है। कर्तव्य-विज्ञानकी दृष्टिसे दूसरोंके हितमें ही अपना हित निश्चित है; प्राकृतिक नियमके अनुसार जो कुछ दूसरोंके प्रति किया जाता है, वही कईगुना होकर अपने प्रति आता है। अविवेकी प्राणी कर्तव्य-विज्ञानका आश्रय न लेकर बलका दुरुपयोग करते हुए अपने ही कर्मोंसे भविष्यको दुःखमय बनाता रहता है। वास्तवमें कर्तव्यपालनमें ही मानवका अधिकार है। कर्तव्यपरायण मानव अधिकार मनानेमें स्वाधीन नहीं है, कर्तव्य-पालनमें स्वाधीन है; वह परिस्थिति-परिवर्तनमें नहीं, उसके सदुपयोगमें स्वाधीन है। वह सुखकी आशामें नहीं, वितरणमें स्वाधीन है। वह दूसरोंको मुक्त, भक्त और सत्यानुरक्त बनानेमें स्वाधीन नहीं है; अपनेको

मुक्त, भक्त, विरक्त और अनुरक्त बनानेमें स्वाधीन है। किसीके अधिकारानुसार देनेयोग्यको दे देना तथा अपने अधिकारानुसार जो कुछ लेना है उसे छोड़ देना स्वाधीनता चाहनेवाले परमार्थीका कर्तव्य है। अपनी बुराई करनेवालेके प्रति बुराई न करना पशु-प्रकृतिका दमन करनेवाले तथा मानवताका निर्माण चाहनेवाले विचारवान्‌का कर्तव्य है। अपनी बुराई करनेवालेके प्रति भलाई करना मानवतामें दिव्यताका अवतरण चाहनेवाले बुद्धिमान्‌का कर्तव्य है। किसी बाहर रहनेवाले शत्रुको न मारकर मनमें रहनेवाली शत्रुताको मार देना—समाप्त कर देना विजय चाहनेवाले वीरका कर्तव्य है। बाहरके प्रान्तों और देशोंको जीतनेकी अपेक्षा अपनी इन्द्रियों तथा मनको स्ववशमें कर लेना स्वराज्य चाहनेवाले शूरका कर्तव्य है। प्रारब्धानुसार मिले हुए गृह-धन-सम्बन्धी-जन आदिका त्याग न करके संगजनित अहंता, चिन्ता, लोभ, मोह, अभिमान, हिंसा, दुराचारका त्याग करना त्यागीका कर्तव्य है। अपने मनकी न करके प्रियतमके मनकी पूर्ति करते हुए सेवा-स्वधर्मके पालनमें कष्टोंको सहते हुए प्रसन्न तथा शान्त रहना तपस्वीका कर्तव्य है। जो कुछ अपने अधिकारमें शुभ, सुन्दर और पवित्र वस्तु हो उसका स्वयं उपभोक्ता न बनकर उसके सहित अपने-आपको समर्पण कर देना सर्वस्व-दानीका कर्तव्य है।

परम दातासे कुछ वस्तु माँगनेकी अपेक्षा उसके प्रेमका याचक होना—दाताको ही चाहना भिखारीका विवेक-पूर्ण कर्तव्य है। ऐसे भिखारीपर दाता परम प्रसन्न होता है। ऐसा भिखारी वही हो सकता है, जो संसारके सुखोपभोगसे पूर्ण विरागी हो; केवल परम प्रिय अपने दाताका ही परमानुरागी हो। आत्मामें निहित असीम शक्ति, अतुल सामर्थ्य और अनन्त ज्ञानको जाग्रत् करनेके लिये बुद्धियोगी होना जिज्ञासुका कर्तव्य है। बुद्धियोगी होनेके लिये तृष्णा, भय, क्रोध तथा चिन्ता और व्यक्तित्वकी दासताका त्याग करना मननशील मुनिका कर्तव्य है। कछुएकी भाँति इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बनाकर मनसे विषय-सम्बन्ध छोड़ देना—मन-बुद्धिको मौन रखकर जो कुछ स्वतः हो रहा हो उसे देखते रहना; पर सहयोग स्थापित न करना योगाभ्यासीका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे ध्यानयोगकी सिद्धि होती है। संयम, सदाचार, तितिक्षा, इन्द्रिय और मनका दमन तथा सदा भगवत्स्मरण करते रहना तीर्थके द्वारा सद्गति चाहनेवालेका कर्तव्य है। सर्वत्र विद्यमान सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी अहैतुकी कृपा तथा प्रभुके मङ्गलमय विधानसे अपना हित होनेपर विश्वास रखना आस्तिकका कर्तव्य है। परमात्माको ही सर्वभावसे अपना मानकर उन्हें ही प्रेमपात्र स्वीकार करना प्रेमीका कर्तव्य है। अपने बनाये हुए दोषोंका तथा अनित्य देहादि वस्तुओंकी ममताका त्याग करना शान्ति चाहनेवाले साधकका कर्तव्य है।

प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, अधिकार, बल और वस्तुका सदुपयोग करना पुण्य-समृद्धि चाहनेवाले मानवका कर्तव्य है। दुःखद परिस्थितिमें सुखोपभोगसे विरक्त होकर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना दुखी प्राणीका कर्तव्य है। अपनी रुचिपूर्तिका पक्ष छोड़कर, अपने सुखकी चिन्ता न रखकर अपने स्वामीकी प्रसन्नताके लिये उसकी आज्ञाका पालन करते रहना सेवकका कर्तव्य है। अहंमें किसी वस्तुको न रखकर तथा किसी वस्तुसे अहंको सम्बन्धित न बनाकर सबसे असङ्ग रहना मुक्ति चाहनेवालेका कर्तव्य है। संसारकी किसी वस्तुको अपनी न जानकर भगवान्‌को अपनेसे अभिन्न मानकर नित्य-निर्भय तथा उन्हींपर निर्भर रहना भक्तका कर्तव्य है।

कर्तव्यनिष्ठ मानव राग-द्वेषसे मुक्त होकर आत्माके निर्विकार स्वरूपका योगी होता है, योगस्थितिमें ही पूर्णताका बोध होता है और पूर्णताका बोध होनेपर प्रेम विभु हो जाता है। कर्तव्यनिष्ठ अपना अधिकार छोड़कर नित्य शान्ति प्राप्त करता है। अधिकारके अभिमानसे क्रोध आता है, दूसरेका

अधिकार पूर्ण न करनेसे लोभ बढ़ता है। क्रोधसे स्वरूप, कर्तव्य तथा परम प्रभुकी विस्मृति होती है; इसीलिये कर्तव्यप्रेमी मानव अधिकार भूलकर क्रोध-रहित तथा दूसरोंका अधिकार पूर्ण करते हुए लोभरहित हो जाता है। कर्तव्यपरायण होनेके लिये अधिकार-त्याग, चित्तमें स्थिरता तथा शान्ति और निष्काम प्रीति होना आवश्यक है।'

कर्तव्यका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितिसे है, परिस्थितिके साथ ही कर्तव्यका विवेक होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यके सामने अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार कहीं अनुकूल, कहीं प्रतिकूल परिस्थिति भाग्यानुसार आती रहती है। अनुकूल परिस्थितिको सुखद मानकर मानव रागी हो जाता है और प्रतिकूलको दुःखद मानकर द्वेषी बन जाता है। राग-द्वेषके द्वन्द्वसे आबद्ध बुद्धिमें कर्तव्यकी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना विवेकी मानवके लिये वर्तमानसे सम्बन्धित कर्तव्य है। मनुष्य भाग्यवश आनेवाली परिस्थिति भले ही न बदल सके, पर उसका सही उपयोग करते हुए अनेक पाप तथा अपराधसे बच सकता है तथा पुण्य-संचय कर सकता है; संयोग-सुख-की दासता और वियोग-दुःखके भयसे मुक्त हो सकता है। जो मनुष्य दुःखसे भयातुर होकर किसी अन्यसे सुख प्राप्त करनेकी आशा रखता है, वह परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर पाता है। सुखी दशामें उदारता-पूर्वक दूसरोंको सुख देना और दुखी दशामें विरक्त होकर अनुकूलके रागका त्याग करना वर्तमानसे ही सम्बन्धित कर्तव्य है। इस कर्तव्यके पालनमें परतन्त्रता नहीं है। बुद्धिमान् मानवके लिये विवेकपूर्वक अपने बनाये हुए दोषोंका पूर्णरूपसे त्याग करना, शुभ-सुन्दर पवित्रका दान देना तथा परिस्थितिका सदुपयोग करना वर्तमानसे सम्बन्धित स्वतन्त्र कर्तव्य है।

मैं अकेला नहीं हूँ, भगवान् सदा मेरे साथ हैं

'मैं अकेला नहीं हूँ; अपनी समस्याओंके साथ संघर्ष करने और उनका कोई उत्तम समाधान प्राप्त करनेके लिये मैं अकेला नहीं हूँ। भगवान् सदा मेरे साथ हैं; भगवान् सदा मुझे अपनी स्नेहमयी भुजाओंमें बाँधे हैं एवं शक्ति-सम्पन्न बना रहे हैं। मुझे जो कुछ भी करनेकी आवश्यकता है, वह सब भगवान् स्वयं मुझसे करवा लेंगे; मुझे तो केवल इतनी ही आवश्यकता है कि 'अपने एवं स्वजनोंके सम्बन्धमें समस्त भय और चिन्तामय विचारोंको भूलकर भगवान्‌की स्नेहमयी सँभालपर दृढ़ भरोसा कर लूँ'—इस सुखद विचारके साथ मैं आजका दिन आरम्भ करता हूँ और इस विचारको प्रत्येक क्षण अपने हृदयमें विराजित रखता हूँ। अब मेरी प्रत्येक आवश्यकताका समाधान भगवान् हैं तथा मैं अपने मन और जीवनके समस्त द्वारोंको सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌की उस मङ्गलमयताकी ओर उन्मुक्त कर रहा हूँ, और वे मुझे इस क्षण एवं प्रत्येक दिनके प्रत्येक क्षण मङ्गल प्रदान कर रहे हैं।

मैं अब कभी अकेलेपन या सूनेपनका अनुभव नहीं करता; क्योंकि भगवान् मेरे सुहृद् हैं और वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ हैं। मुझे कब क्या वास्तविक आवश्यकता होगी और किसमें मेरा यथार्थहित होगा, इस बातको वे पूर्णरूपसे जानते हैं। उनके लिये स्थिति एवं कालका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतएव जब भी मैं उनकी ओर मुड़ता हूँ तो स्थिरता, शान्ति और शक्तिसे छलक उठता हूँ।

मैं अकेला नहीं हूँ, भगवान् सदा मेरे साथ हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

परम आश्चर्यप्रद त्याग

बंबईकी एक पुरानी घटना है। सेठ जगमोहनदास एक दिन अपने स्वर्गीय पिता श्रीव्रजवल्लभदासजीके कागजोंकी पेटी खोलकर उसके कागज देख रहे थे। देखते-देखते उन्हें एक बड़ा लिफाफा मिला। उसमें एक मकानके कागजात पट्टे आदि, एक विक्रयपत्र तथा उसके साथ एक पत्रकी नकल थी। जगमोहनदासजीने उनको देखा और पत्र पढ़ा। पत्रमें लिखा था—

भाई द्वारकादासजीसे व्रजवल्लभदासके जय श्रीकृष्ण। आपपर एक झूठा मुकदमा लग गया, और सम्भव है कि उसमें आप हार जायँगे (यद्यपि आप सच्चे हैं, इससे ऐसी सम्भावना तो नहीं है) तो आपके मकानपर कुर्की आ सकती है। इसीसे सोलीसीटरोंकी रायसे आपने अपना मकान, जिसका पट्टा तथा कागजात आपने मुझको देकर, दो लाख बावन हजारमें मेरे नाम बेच दिया है। और बाकायदा सेलडीड (विक्रयपत्र) रजिस्टर्ड हो गया है। असलमें यह फर्जी बेचान है, आपने मुझसे एक पैसा भी नहीं लिया है। बेचानमें जो स्टाम्प तथा सोलीसीटरका खर्च लगा है, वह भी आपने ही दिया है। केवल रक्षामात्रके लिये आपने मेरे नामपर मकान कर दिया है। मकान सर्वथा आपका है तथा आपका ही रहेगा। मेरे या मेरे उत्तराधिकारी किसीका इसपर अधिकार नहीं होगा। आपकी स्थिति जब ठीक होगी और आप जब चाहेंगे, तभी यह मकान आपके नामपर पुनः ट्रांसफर करा दिया जायगा। इसमें मेरे तथा मेरे किसी उत्तराधिकारीको कभी कोई आपत्ति नहीं होगी।'

—हस्ताक्षर × ×

इस पत्रको पढ़ते ही सेठ जगमोहनदासकी आँखोंमें आँसू आ गये। उन्होंने अपनी पत्नी लक्ष्मीबाईको बुलाकर पत्र सुनाया और आँसू बहाते हुए कहा—'मेरा कितना दुर्भाग्य है, जो मैंने पंद्रह वर्ष इस पेटीके कागजोंको नहीं देखा। पिताजी और ताऊजी दोनों ही स्वर्गवासी हो गये। न मुझको इस बातका कुछ पता था और न भाई गिरधरदास ही इसे जानता था। वह तो छोटा था, जानता ही कैसे? और ताऊजीकी मृत्यु बहुत पहले हो गयी थी। ताई मर ही चुकी थी। मैं जानने लायक था; परंतु पिताजीकी अकस्मात् हृदयकी गति रुकनेसे मृत्यु हो गयी और वे मुझसे कुछ भी बता न सके। मुझे पता होता तो क्यों भाई गिरधरदास तकलीफ पाता, क्यों हमारे दिये हुए पाँच सौ रुपये मासिक लेनेकी उसे जरूरत पड़ती। छः सौ रुपये तो खर्च बाद देकर मकानका भाड़ा ही आता है। अब तो एक दिनकी देर नहीं करनी है। आज ही गिरधरदासको बुलाकर उसका मकान उसे सौंप देना है।'

लक्ष्मीबाई भी वस्तुतः लक्ष्मी ही थी। उसने कहा, 'यह तो बहुत ही अच्छा हुआ; भगवान् श्रीनाथजीने बड़ी कृपा की जो आपने कागज देख लिये। नहीं तो, स्वर्गीय पिताजीकी आत्मा कितनी दुखी होती और स्वर्गीय ताऊजीका भी यह ऋण कैसे उतरता। धरोहर रहनेसे हमलोगोंको भी, पता नहीं क्या, दुर्गति होती। आप अभी स्वयं गिरधरदासके पास जाइये। मैं भी साथ चलूँगी। उसे बुलाइये मत। ऋणी तो हमलोग हैं। और उससे क्षमा माँगकर उसकी तथा उसके बाल-बच्चोंकी आशीष प्राप्त कीजिये। केवल मकान ही नहीं देना है। कम-से-कम एक लाख रुपये नगद और देकर इस ऋणसे मुक्त हो जाइये।'

धर्मभीरु धर्मपत्नीकी बात सुनकर सेठ जगमोहनदास हर्षातिरेकसे गद्गद होकर बोले—'लक्ष्मी! तुम साक्षात्

लक्ष्मी हो; तुम्हारी जगह दूसरी कोई स्त्री होती तो कभी यह सलाह नहीं देती। क्यों भेद खोलने देती और क्यों आजकी कीमतसे केवल छः लाखका मकान ही लौटानेकी बात नहीं, एक लाख रुपये और देकर ऋणमुक्त होनेकी राय देती। तुम्हारी-जैसी पत्नी मिली, यह मेरा बड़ा सौभाग्य है और मुझपर भगवान्‌की बड़ी ही कृपा है।'

तुरंत ही दोनो पति-पत्नी सारे कागजात तथा एक लाखका चेक लेकर गिरधरदासके घर पहुँचे। चाचाजीको चाचीसमेत आये देख, गिरधरदास और उसकी पत्नीने आनन्दमें भरकर बहुत स्वागत किया। चाचा-चाचीका बहुत ही सद्‌व्यवहार था, भतीजे तथा उसके कुटुम्बके साथ। इन्होंने गिरधरदासको एक दूकान भी करवा दी थी तथा पाँच सौ रुपये मासिक शुरूसे ही खर्चके लिये देते थे। विवाह-शादीका भी सारा खर्च ये ही करते थे। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कभी जरा भी अहसान जताना तो दूर, मुँह भी नहीं खोलते थे। किसीको पतातक नहीं था कि पाँच सौ रुपये मासिक जगमोहनदास लंबे समयसे दे रहे हैं। जगमोहनदास और उनकी पत्नीके सिवा बैढ़ीके मुनीमोंतकको पता नहीं था।

चाचा-चाचीने गिरधरदास और उनकी पत्नीको पास बैठाकर सारी बातें सुनायीं। पट्टा, कागजात सामने रखकर पिताजीके लिखे पत्रकी नकल पढ़ायी। (गिरधरदासको तो पता नहीं था। यद्यपि मूलपत्र उसके घरमें ही रखा था, पर उसने कभी खोजा—देखा ही नहीं था)। और एक लाखका चेक देकर यह कहा कि 'बेटा! भूलके लिये क्षमा करना। हमलोग तुम्हें कुछ दे नहीं रहे हैं। तुम्हारी ही चीज तुम्हें मिल रही है। भगवान्‌की कृपासे ही यह प्रसंग बन गया है। यह भी भगवत्कृपा ही है कि तुम्हारा मकान सुरक्षित है और तुम्हारा यह चाचा तुम्हारे पुण्यात्मा दोनो दादाजीके पुण्यसे इस समयतक इस स्थितिमें है कि तुम्हारी चीज तुम्हें लौटा सकता है।' यों कहकर दोनो रोने लगे।

गिरधरदास और उनकी पत्नीकी तो विचित्र हालत थी। वे अपार हर्षके साथ बड़े आश्चर्यमें डूब रहे थे। क्या अलौकिक दृश्य है। वे बोल नहीं सके। चाचा-चाचीके चरणोंपर गिर पड़े। दोनोने दोनोको उठाकर हृदयसे लगाया। गिरधरदासने कहा—'चाचाजी! हम तो अबतक आपके जिलाये ही जी रहे हैं। घर तो पिताजीके मरनेके पहले बर्बाद हो चुका था। आप ही अबतक सम्हालते रहे। हम आपके ही हैं, आप हमें यह सब क्या दे रहे हैं'—× × ×

चाचा-चाचीके बहुत आग्रह करनेपर कागजात और चेक गिरधरदासने लिये। जिस युगमें छल-बल-कौशलसे भाईका धन भाई हड़पनेको प्रयत्नशील है तथा इसीमें गौरव मानता है, उस युगमें इस प्रकारकी घटना निश्चय ही अत्यन्त आश्चर्यप्रद और परम आदर्श है।

—वनमालीदास

(२)

सास या जननी

कुछ बर्ष पहलेकी बात है। रामपर छोटा-सा गाँव है। उसमें रामचंद सेठका नाम दिपता था। खासी सम्पत्ति; सब प्रकारका सुख। गायें, भैंसें पर्याप्त संख्यामें। मलाईभरा दूध, अमृत-सी छाछ और घरके घीका शुद्ध आहार—इससे घरमें सभी स्वस्थ थे। सेठ मनके उदार थे, इससे आसपासके गाँवोंमें चारो ओर उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनके पुत्रका विवाह हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। पुत्रवधू खानदानी कुटुम्बकी सुशील कन्या थी।

घरमें बहुत दूध होता, इसलिये रोज ही मक्खन उतरता और उसका घी भी बनता। आज चूल्हेपर

अद्धा टीन चढ़ी थी, जिसमें लगभग दस सेर मक्खन था। बाहर औसारेमें सेठका पुत्र पूरी टीन लिये बैठा था, उसमें घी भरना था। रसोईमें सास-बहू दोनो थीं—'बीचकी कोठरीमें ससुरजी बैठे माला फेर रहे थे। मक्खनका घी हो गया तब सासने बहूसे कहा—'मैं अद्धा बाहर रख आती हूँ, तुझको घूँघट निकालकर जाना पड़ेगा।' परंतु आर्यवधू सासको कैसे जाने देती? वह स्वयं अद्धा लेकर, घूँघट निकालकर चली। बीचकी कोठरीमें घुसी ही थी कि न जाने कैसे साड़ीका छोर पगमें अटक गया और हाथसे अद्धा गिर पड़ा। सारा घी बह चला, स्वयं गिरते-गिरते मुश्किलसे बची। घी बहुत गरम था, पर सौभाग्यसे वह कहीं जली नहीं। ससुर आवाज सुनते ही बोले—'खमा बेटा!' और रसोईमेंसे सास दौड़ी आयी और बहूको बाँथमें भरकर बोली—'बेटा! कहीं जली तो नहीं है न? तुझे कहीं चोट तो नहीं लगी? घी ढुल गया, इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है, कल फिर घी तैयार हो जायगा। तू चिन्ता मत करना।'

इतना सुनते ही बहू सासके चरणोंपर गिर पड़ी, हर्षातिरेकमें उसकी पलकें भींग गयीं, वह कुछ बोल नहीं सकी; पर मन-ही-मन कहने लगी—ये मेरी सासजी मेरी माँसे भी बढ़कर हैं। कहीं पीहरमें ऐसा हुआ होता, तो कुछ भी नहीं तो, माँ उलाहना जरूर देती।

ऐसी सास-बहू घर-घरमें हों तो इस पृथ्वीपर स्वर्ग ही उतर जाय।

—झवेर भाई बी० सेठ, बी० ए०

(३)

सहानुभूति और सेवा

सन् १९०८ की बात है। मेदिनीपुरमें एक अंग्रेज जज थे। उनका नाम था मि० किली। उनका जीवन बहुत ही ईमानदारीका तथा संयमी था। उन्होंने अपने घरके कामके लिये एक चपरासी रख लिया था। वह नौकर दिनभर साहबका काम किया करता।

एक दिन वह चपरासी बाहरसे डाक लेकर आया था। साहेबके बँगलेमें प्रवेश करते ही एक पागल कुत्तेने उसके पैरमें काट खाया। साहब बरामदेमें बैठे देख रहे थे। वे तुरंत खड़े होकर दौड़े और चपरासीका पैर हाथमें लेकर मुँहसे चूसने लगे। पागल कुत्तेका विष चूसते जायँ और थूकते जायँ। परंतु साहबको जहर चूसनेकी आदत नहीं थी और मुँह भी गीला था। आधे घंटे बाद जब सारा विष चूस लिया गया, तब वह साहेबको चढ़ने लगा। उन्होंने नौकरको आराम करनेके लिये छुट्टी दे दी और स्वयं हँसते-हँसते डाक्टरके पास पहुँचे।

डाक्टरने उनसे कहा—'आप इस बखेड़ेमें क्यों पड़े?' तब मि० किलीने उत्तर दिया कि 'बेचारा चपरासी पागल कुत्तेका इलाज करानेकी स्थितिमें नहीं था। मैंने इसीलिये जहर चूस लिया कि मेरी इलाज करा सकने-लायक आर्थिक स्थिति है। चपरासीको पैसा देता तो वह शायद उन्हें बचा लेनेके लोभमें इलाज न कराता। मेरे इलाजके पैसे तो मुझे खर्च करने ही पड़ेंगे। इस प्रकार एक गरीबकी सेवा हो गयी।'

मि० किली सच्चे अर्थमें चपरासीके लिये 'नील-कण्ठ' थे।

—सुकेतु

(४)

अशरणके शरणदाता

सन् १९५६ की बात है। मैं एक फौजी विभागमें सिविलियन कर्मचारी हूँ तथा वहाँकी एक छोटी-सी मजदूर यूनियनका कार्यकर्ता भी। उक्त विभागके स्थानीय सर्वोच्च अधिकारीसे मेरी साधारण-सी बातपर अनबन हो गयी और वे उच्चाधिकारी मुझे हर प्रकार-

की हानि पहुँचानेपर उतारू हो गये। उनके संकेतसे उक्त कार्यालयके लगभग साढ़े तीन हजार मजदूर मेरी एक जानके पीछे पड़ गये। मुझे जानसे मार डालनेकी बात सोची जाने लगी। कई बार लोगोंने मुझे अपमानित करने एवं मारने-पीटनेको घेर भी लिया, पर उन्हीं लोगोंके हृदयमें दयाका संचार हो जानेसे मैं बाल-बाल बचता रहा। उस दशामें मुझे ऐसा कोई अपना नहीं दिखायी देता था कि जिसके सामने जाकर मैं रोऊँ और शिकायत करूँ। अन्तमें अपना भला इसीमें सोचकर कि अशरणके शरणदाता परमात्मा हैं, मैंने उन्हींकी शरण ली और कारखानेसे एक सप्ताहकी छुट्टी लेकर मानसकी इस चौपाई—

दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

—के सम्पुटके साथ अत्यन्त आर्तभावसे मानसका पाठ प्रारम्भ कर दिया। पाठके समाप्त होनेके ठीक दूसरे ही दीन वे अधिकारी अपने दो अन्य बड़े-बड़े सहायकोंके साथ स्वयं मेरे पास मिलने आये और सब झगड़ा समाप्त करनेको कह गये। यही नहीं, जो मजदूरोंकी भीड़ मेरे विरुद्ध बाजारमें किसी पागल स्त्रीके पीछे लगे हुए लड़कोंके झुंडकी तरह अपमानित करनेके लिये पीछा करती थी, वही पाठ-समाप्तिके बाद नौकरीपर जानेमें मेरे लिये जय-जयकारके नारे बुलंद करने लगी और वे उच्चाधिकारी तो मेरे इतने निकट-सम्बन्धी बन गये कि मेरे साथ छोटी-मोटी दावत और मेले-ठेलोंके सैर-सपाटेमें भाग लेने लगे। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

—'भरैया'

(५)

ईमानदारीकी प्रेरणामूर्ति

कुछ महीनों पहलेकी बात है—

मैं अपने यहाँ आये हुए एक मेहमानके साथ बाड़ीमें नहाने गया था। नहा-धोकर लौटते समय हम लोगोंने बाड़ीमेंसे ९-१० केले, ३-४ सीताफल, कुछ अमरूद तथा नीबू चोरी-छिपाईसे ले लिये। घर वापस लौटनेपर मेहमानने मुझसे पूछा—'मधुभाई! मेरे सोनेके बटन आपके पास हैं?'

मैंने कहा—ना भाई, नहाते समय आपने कपड़ोंमें ही रक्खे थे न?

'हाँ, रक्खे तो थे कपड़ोंमें ही, पर वे जाते कहाँ?' यों कहकर मेहमान महोदयने अपने कपड़ोंको फिरसे देखा, पर बटन नहीं मिले।

मैंने कहा—'तो फिर बटन बाड़ीमें ही रह गये। किसीकी नजर चढ़ गये होंगे तो मिलने मुश्किल हैं।'

मेहमानने कहा—चलिये, बाड़ीमें फिर पता लगायें।

हमलोग बाड़ी जाकर वहाँके रखवाले गंगूभाईके पास गये। हमलोगोंका मुँह चिन्ताग्रस्त तथा हमारी अस्तव्यस्त-सी हालत देखकर वह खुद ही जलके पंपकी कोठड़ीसे बाहर आकर हमसे पूछने लगा—'बटनकी खोजमें आये दीखते हैं?'

हमलोगोंने अधीर होकर उससे पूछा—'हाँ, तुम्हें बटन मिले हैं क्या?'

उसने 'हाँ' कहा, तब हमें शान्ति मिली। हमलोगोंने उसको बटनकी निशानी बतायी तब उसने बटन दे दिये। फिर उसने चाय पिलाकर कुछ मीठे उपदेशकी बातें कहीं—'अब आगेसे ऐसी गफलत और उतावली मत करना, उतावला सो बावला। यह तो खैर बटन ही थे, इनसे भी बहुत अधिक कीमतकी वस्तु कहीं भूल जाय और वह यदि किसी बुरे आदमीके हाथ लग जाय तो फिर गयी वस्तुका मिलना कठिन है।'

ऐसे ईमानदार पुरुषके सामने हमारे मस्तक झुक गये। और साथ ही बाड़ीमेंसे चुराकर ले गयी हुई

चीजोंके लिये हमारे दिलपर बड़ी चोट लगी।—'कहाँ यह अशिक्षित ईमानदार आदमी और कहाँ हमारे-सरीखे शिक्षित और उच्च श्रेणीके पुरुष। इस अशिक्षित परंतु शुद्ध हृदयके पुरुषने सोने और पत्थरको समान समझा और हमारी नीयत बिल्कुल मामूली चीजोंके लिये ही बिगड़ गयी।'

हमारे मनमें कई प्रश्न आये—बाड़ीमेंसे ये चीजें हमने किसलिये चुराईं? क्या पैसे देकर इन चीजोंको नहीं खरीदा जा सकता था? गंगूभाईसे कहकर लेते तो क्या वह नहीं देता? अथवा क्या चोरी हुई और मुफ्त-में मिली हुई चीजोंके खानेमें विशेष आनन्द आता है? इन प्रश्नोंका एक भी उत्तर मेरे पास नहीं था।

हमने गंगूभाईसे 'चोरी'की बात कही और उससे माफी माँगी। इस प्रसंगके बादसे मैं गंगूभाईको अपने जीवनकी ईमानदारीके लिये प्रेरणा-मूर्ति मानता हूँ।

—मधुकान्त भट्ट

(६)

शिव तथा संत-कृपासे रुपये मिल गये

मेरे स्वर्गीय पितामहकी एक हजार रुपयेके करीब-की रकम किन्हीं सज्जनमें जमा थी। उन सज्जनका व्यापार भी अच्छी तरह चलता था। पर "Riches have wings" के अनुसार उन्हें व्यापारमें घाटा लगा और दिवाला भी निकल गया। जिन-जिनका उनमें रुपया था, सभी माथेपर हाथ धरकर बैठ गये। मेरे दादाजीकी स्थिति बड़ी गम्भीर थी। उनका तो मानो हार्ट-फेल हुआ जा रहा था। महाराज स्वामीजी श्रीउत्तम-नाथजीको इसका पता लगा। उन्होंने मेरे पितामहको बुलाया और कहा—'शुरू! फिकर क्यूं करे है, थारा रुपया थने मिल जासे।' (क्यों चिन्ता करता है, तेरे रुपये तुझे मिल जायँगे) मेरे दादाने कहा—'पर उनका तो दिवाला निकल चुका है।' उत्तमनाथजीने मृदु स्वरमें कहा—'दिवालो निकल्यो तो निकलवा दे। भाग माथे भरोसो राखे या नीं राखे। आज पाणी रे सिवाय कीं मत लीजे, सारो दिन 'ॐ नमः शिवाय'' रो जाप करजे, सुबे थने रुपया घरे मिल जावेला।'(दिवाला निकला है तो निकलने दे। भाग्यपर भरोसा रखना है या नहीं। आज जलके सिवा और कुछ मत लेना और दिनभर 'ॐ नमः शिवाय' का जप करना। सुबह तुझको अपने घरपर ही रुपये मिल जायँगे।) मेरे दादाजीको पूज्य नाथजीके वचनोंपर विश्वास था। उन्होंने नाथजीके कहे अनुसार पारायण किया। रातको नींद भी कुछ कम ली।

ब्राह्ममुहूर्त्तमें वे सहसा चौंके। किसीने पुकारा 'शुरू! आडो खोल' (सुरू! किवाड़ खोल) वे भागे और दरवाजा खोल दिया। व्यापारीका भेजा हुआ आदमी आया था। उसने कहा कि 'आप रुपये गिन लीजिये व्याजसहित।' मेरे पितामहकी खुशीका पार ही नहीं था। भगवन्नाममें तन्मयतासे कामना तत्काल सिद्ध हो गयी। यह घटना भले ही हास्यास्पद प्रतीत होती हो, पर जो श्रीउत्तमनाथजीके सम्पर्कमें आये हैं वे तो कम-से-कम इसे मानेंगे ही।

—सुंदरलाल बोहरा

(७)

बहू शुभाकी शुभ वृत्तिका सुपरिणाम

लगभग चालीस वर्ष पहलेकी घटना है। बंगालके दिनाजपुर जिलेके एक गाँवमें एक रामतनु नामक ब्राह्मण रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम प्रमिला था। एक पुत्र प्रद्योतकुमार था, जो कलकत्तेसे ग्रेजुएट होकर आया था और उसे अच्छी नौकरी मिलनेकी आशा थी। बगलके गाँवमें एक ब्राह्मण सद्गृहस्थ प्रमथनाथके एक बड़ी सुशीला कन्या थी। लड़केकी बी० ए० में सफलता सुन-कर प्रमथनाथने चेष्टा करके अपनी कन्या शुभाका विवाह

उससे कर दिया। रामतनुकी स्त्रीका स्वभाव बहुत ही उग्र था एवं वह अत्यन्त कठोरहृदया थी। उसकी शैवालिनी नामकी एक लड़की भी माँके स्वभावकी थी और प्रद्योतमें भी माँकी प्रकृतिका ही अवतरण हुआ था। जबसे शुभा घरमें आयी, तभीसे शैवालिनी उसके विरुद्ध माँको लगाया करती, कहती 'यह बड़ी कुलक्षणी है, घरको बर्बाद कर देगी और माँ अपने लड़के प्रद्योतका सदा कान भरा करती। बेचारी शुभाका बुरा हाल था, दिनभर उसे अपनेको तथा अपने सीधे-सादे माता-पिताको गालियाँ सुननी पड़तीं। घरका सारा काम तो गधेकी-ज्यों करना ही पड़ता। होते-होते सास, पति और ननद तीनों उसके लिये साक्षात् यमराजका रूप बन गये। वह बेचारी चुपचाप सब सहती रहती। स्वभाव बिगड़ जानेके कारण प्रद्योतकी कहीं नौकरी नहीं लगी। इससे वह और भी जला-भुना रहता। घरमें आपसमें भी उनके लड़ाई-झगड़े होते रहते। वृद्ध रामतनु बड़े भद्र पुरुष थे। वे चुपचाप सुनते रहते। मन-ही-मन परिवारकी दुर्दशापर दुःख करते हुए भी अपना अधिक समय भजनमें लगाते। उनके पास कुछ पूँजी थी, उसीसे घरका काम चलता।

एक दिन माँ-बेटेमें लड़ाई हो गयी। पुत्र प्रद्योतने माँको भद्दी गालियाँ दीं और वह मारनेको दौड़ा। शुभासे नहीं रहा गया, उसने उठकर पतिके हाथ पकड़ लिये और कहा—'स्वामिन्! आपकी माता हैं, देवस्वरूपा हैं। इनका पूजन करना और इन्हें सुख पहुँचाना ही आपका धर्म है। तथा इसीसे सबका कल्याण है इत्यादि।' शुभाकी यह हरकत देखकर प्रद्योत आग-बबूला हो गया और माँकी ओरसे हटकर पत्नीपर चढ़ आया, हाथ छुड़ाकर बड़े जोरोंसे दो-चार घूँसे लगाये और बोला—'चुड़ैल! तू हमारे बीचमें बोलनेवाली कौन? बड़ी ज्ञानवाली उपदेश देने आयी है। यह माँ राँड़ तेरी है कि मेरी है। मैं अपनी माँसे चाहे जैसा व्यवहार करूँगा, तुझे क्या मतलब!' शुभा बेचारी घूँसे खाकर चुपचाप अलग बैठ गयी।

इतनेमें ही तमककर प्रमिला (सास) ने कहा—'बेटा! सच ही तो है। यह चुड़ैल हमलोगोंके बीचमें बोलनेवाली कौन होती है। इसकी माँ राँड़ और भड़ुए बापने इसे यही सिखाया होगा कि 'पतिको सीख दिया करो'। ऐसी औरतें बड़ी कुलच्छनी होती हैं। इनका तो घरमें रहना ही घरके लिये बर्बादीका कारण है। तुमने अच्छा किया जो इसकी मरम्मत कर दी। मेरे तो एक सहेली थी। उसकी बहू भी इसी चुड़ैलकी तरह ज्यादा बोलती थी। एक दिन उसने अपने बेटेको समझाया। बेटा बड़ा आज्ञाकारी और धर्मात्मा था! उसने पहले तो उसकी खूब मरम्मत की और इसपर भी जब नहीं मानी तो माँकी सलाहसे एक दिन बेटेने उसके सोते समय तमाम बदनपर मिट्टीका तेल छिड़क दिया और दियासलाई लगा दी। राँड़ तुरंत ही जलकर खाक हो गयी। हर्रे लगा न फिटकरी, कुछ ही दिनोंमें इन्द्रकी परी-सी नयी बहू आ गयी। बेटा—ऐसी औरतें इसी कामकी हैं।'

माँकी बात सुनकर बड़े उत्साहसे बेटी शैवालिनी भाईसे बोली—'हाँ-हाँ भैया! माँ ठीक कहती है। लातका देवता बातसे थोड़े ही मानता है।'

प्रद्योत और भी उत्तेजित हो गया। उसके क्रोधकी आगमें माँ तथा बहिनके शब्दोंने मानो घृतकी आहुति डाल दी। उसने दौड़कर शुभाके सिरपर घूँसे मारे और कहा—'सुन लिया न, अब जरा भी चीं-चपड़ की तो माँका बताया उपाय ही किया जायगा। खबरदार!'

फिर तीनों बहुत बके-झके—बेचारी निरीह शुभा सुबक-सुबककर—चुपचाप रोती हुई सब सुनती रही और मिट्टीके तेलकी आगसे जल मरनेको तैयार होने लगी।

वृद्ध रामतनु सब सुन रहे थे, वे बड़े साधु-स्वभाव थे, पर आज उनसे नहीं रहा गया। इस कुत्सित अत्याचारको उनकी आत्मा सहन नहीं कर सकी। उन्होंने खड़े होकर बड़े जोरसे झिड़कते हुए अपनी पत्नी प्रमिलासे कहा—'चाण्डालिनी! तू मालूम होता है साक्षात् पिशाचिनी है। निरपराध बालिकापर, जो बेचारी देवकन्याके सदृश सर्वगुणसम्पन्न और सुशील है, तुमलोग इतना भयानक अत्याचार कर रहे हो। यह नीच प्रद्योत भी तुम्हारे साथ हो गया है। तुमलोग इसको तथा इसके साधु-स्वभाव माँ-बापको गालियाँ देकर बहुत बड़ा पाप कर रहे हो। इस छोकड़ी शैवालिनीकी भी बुद्धि मारी गयी। यह नहीं सोचती कि इसके ससुरालमें इसकी भी यही दुर्गति हो सकती है। तब माँ-बेटी दोनोकी क्या दशा होगी। बेचारी लड़की सात्त्विक माता-पिताको छोड़कर तुम्हारे घर आयी है और तुम राक्षसकी तरह उसे खानेको दौड़ रहे हो और उसे जलाकर मारनेकी सोच रहे हो। धिक्कार है। याद रखना, गरीब दीनकी हायसे सर्वनाश हो जायगा।'

पतिकी बात सुनकर प्रमिला कड़ककर बोली—'बस, बस, रहने दो। तुम्हारी तो बुद्धि सठिया गयी है। तभी तो इस नीच जवान छोकड़ीकी हिमायत कर रहे हो। रक्खो न, इस देवकन्याको अपने पास। हम माँ-बेटे तो अपना काम चला लेंगे।'

अब तो रामतनुकी आत्मा तिलमिला उठी। बड़े साधुस्वभाव होनेपर भी उनके मुँहसे सहसा निकल गया—'चाण्डालिनी! जा, तेरे और इस तेरे दुष्टचरित्र राक्षस बेटेके शीघ्र ही गलित कुष्ठका रोग हो जायगा और तू दुःखदर्दसे कराहते-कराहते मरेगी। यह लड़की भी सुख नहीं पायेगी × × ×।'

रामतनु बोल ही रहे थे और न मालूम उनके मुँहसे क्या निकलनेको जा रहा था कि शुभाने दौड़कर उनके चरण पकड़ लिये और वह चीख मारकर गिर पड़ी। फिर चरण पकड़कर बोली—'पिताजी! पिताजी! आप क्या बोल रहे हैं। कुसूर तो मेरा है। मैं न बोलती तो इतना काण्ड क्यों होता। मेरे ये पतिदेव ही मेरे देवता हैं, मेरे भगवान् हैं। और ये माताजी, जो मेरे भगवान्‌की माँ हैं, मेरे लिये परम पूजनीय हैं। पिताजी! इन लोगोंका जरा भी कष्ट मैं सहन नहीं कर सकती। इनको गलित कुष्ठ होगा तो मैं कैसे जीऊँगी। मुझपर दया करो, क्षमा करो पिताजी! आप दयालु हैं....'

बहूकी बात काटकर प्रमिलाने चिल्लाकर कहा—'बड़ी शिफारिस करनेवाली आयी है। जान गयी मैं, यह बूढ़ा और तू दोनो मिले हुए हो। हमलोगोंके पीछे लगे हो। पर चिड़ियाकी बींटसे कहीं भैंस मरती है। इसके शापसे हमारा क्या होगा। देखती हूँ, पहले तुमलोग मरते हो कि हमें कोढ़ होती है।'

शुभा कुछ नहीं बोली, वह ननदके लिये भी ससुरसे कुछ कृपाभिक्षा चाहती थी, पर अब बोल नहीं पायी। रोने लगी। रामतनु उठकर बाहर चले गये। उन्हें अपने क्रोधपर पश्चात्ताप था। तीनो माँ-बेटे-बहिन अलग एक कमरेमें चले गये।

× × ×

विधिका विधान, कुछ ही वर्षों बाद प्रमिला और प्रद्योतको गलित कुष्ठ हो गया और शैवालिनीका पति पागल होकर पागलखाने भेज दिया गया। अब प्रमिला और प्रद्योत दोनोंके पश्चात्तापका पार नहीं रहा। उधर शुभाकी दशा तो सबसे अधिक दयनीय हो गयी। वह रात-दिन रोती तथा सास-पति एवं ननदके दुःखमें अपनेको कारण मानकर महान् खेद करती हुई बार-बार भगवान्‌से कातर प्रार्थना करती—सास-पतिके रोगनाशके लिये और ननदोईकी स्वस्थताके लिये! दिन-रात सब घृणा छोड़कर वह तन-मनसे सास-पतिकी हर-तरहकी सेवामें लगी रहती।

गाँवमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे—श्रीकपिल भट्टाचार्य। एक दिन शुभा उनके स्थानपर जाकर चरणोंमें पड़कर रोने लगी तथा उनसे सब हाल सविस्तर कह सुनाया। महात्माका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने कहा—'बेटी! तुम धन्य हो। इनके पाप तो बहुत प्रबल हैं। परंतु तुम्हारी सद्भावनासे तुम्हारे स्वामी शीघ्र ही रोगमुक्त हो जायँगे और तुम्हारे अत्यन्त अनुकूल होंगे। तुम्हारा जीवन सुखी होगा। उन्हें केवल चने खिलाओ, चावलमोगरेका तेल लगाओ और एक सिद्धौषधि देकर कहा कि यह खिलाओ। तीन महीनेमें रोगसे छुटकारा मिल जायगा। परंतु सास अच्छी नहीं होगी, उसका रोग बढ़ेगा और वह मर जायगी। पर तुम्हारी सद्भावनासे परलोकमें उसकी दुर्गति नहीं होगी। तुम्हारे ननदोईका पागलपन भी मिट जायगा। तुम्हारी सद्भावना तथा इन तीनोंके सच्चे पश्चात्तापसे ही भगवत्कृपा-से यह फल होगा।········पर यह याद रखना, तुम भी आगे चलकर सास बनोगी। कहीं ऐसा न हो कि सास बनकर बहूके प्रति दुर्भाव करने लगो। यद्यपि सब सास बुरी नहीं होतीं, तथापि सासमें वह मिठास नहीं होती, जो माँमें होता है। बहुत मीठी सास भी कुछ कड़ुवापन रखनेवाली ही पायी जाती है। होना चाहिये सासको अधिक मिठासवाली; क्योंकि उसे परायी बेटीको बेटी बनाकर उसपर स्नेह करना है। इसलिये बहूपर बेटीसे भी अधिक प्यार करना चाहिये। वह बेचारी अपने बापके घरको छोड़कर तुम्हारे यहाँ आती है, वह अपना दुःख भी किसीसे नहीं कह सकती और तुम यदि पिशाचिनीकी भाँति उसका खून चूसने लगती हो तो तुम्हारी दुर्गति कैसे नहीं होगी। याद रखना चाहिये, बहूको सतानेवाली सास नरकोंमें जाती है और उसे शूकरीकी योनि प्राप्त होती है। मैंने यह सभी सासमात्रके लिये कहा है। तुम कभी भी ऐसी नहीं हो सकती। तुम तो कौसल्या-सरीखी आदर्श सास होओगी। साथ ही पतियोंको भी याद रखना चाहिये, वे अपनी पत्नीको कभी गाली भी न दें, हाथको कभी उठावें ही नहीं। जो पति अपनी पत्नीको मारता है, वह अगले जन्ममें स्त्रीयोनिमें जाकर जवानीमें विधवा होता है।

कहना नहीं होगा कि कुछ ही दिनोंमें प्रद्योत रोगमुक्त हो गया। प्रमिला कष्ट भोगती हुई मर गयी; पर वह मरी पश्चात्तापकी आगमें जलती हुई तथा मुक्तकण्ठसे शुभाकी बड़ाई करती और उसे आशीर्वाद देती हुई। शैवालिनी भी पतिके स्वस्थ होनेसे सुखी हो गयी। तीनोंके बड़े पाप थे, पर शुभाकी परम शुभवृत्तिसे परिणाम मङ्गलमय हो गया। प्रद्योतकी बड़ी अच्छी नौकरी लग गयी और उन दोनोंका जीवन धन-सम्पत्ति-संतति-सम्मति आदिसे सर्वाङ्ग सुखपूर्ण हो गया।

—विमलेन्दु चटर्जी

(८)

गरीबीमें ईमानदारी

गरमीकी छुट्टियोंमें मैं घाटकोपर गया था। वहाँ हमारी दूकानपर नियमित आनेवाले एक शिक्षक मित्रने यह घटना सुनायी थी—

मैं जब नया-नया अध्यापक होकर स्कूलमें आया था, तबकी बात है। मैं दसवें क्लासमें संस्कृतकी घंटी ले रहा था। संस्कृत श्लोकोंपर पाठ देनेमें लगा था। इसी बीच आवाज सुनायी दी—'मैं अंदर आ सकता हूँ—महाशयजी।'

'हाँ', स्वीकृति मिलते ही एक पंद्रह वर्षका विद्यार्थी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके कपड़े ही उसकी गरीबीकी गवाही दे रहे थे। नंगे पैर, सुन्दर वदन, पर चेहरेपर अकथनीय वेदना फैली हुई! उसने करुणाके भावसे धीरेसे मुझसे कहा—

'सर! पाँचेक रुपयेकी सहायता करेंगे·······?'

पैसेकी बात सुनते ही एक बार तो मैं सहम ही

गया, पर फिर सावधान होकर मैंने धीरेसे पूछा—'क्यों, क्या करोगे ?'

'सर ! आज फीस भरनेकी अन्तिम तारीख है। मैं अबतक फीस नहीं भर सका, इसलिये क्लासटीचरने मुझको 'गेट-आउट' कर दिया है। सर ! इतनी-सी मदद करें तो............तो पाँच-छः दिनोंमें मैं रुपये लौटा दूँगा।' नीचा सिर किये बड़े करुणस्वरमें उसने कहा।

जो कुछ भी हो, मैं एक शिक्षक था। इतने विद्यार्थियोंके (और सो भी दसवें क्लासके ही विद्यार्थियोंके) सामने मुझसे 'ना' नहीं कहा गया। मैं इस विद्यार्थीसे सर्वथा अपरिचित था, तो भी परिस्थितिवश मैंने जेबसे पाँच रुपये निकालकर उसके हाथपर रख दिये।

आभार मानता हुआ विद्यार्थी चला गया। कुछ क्षणोंतक तो मैं उस विद्यार्थीकी सभ्यता, नम्रता, वाक्पटुता आदिपर विचार करता रहा, पर उसी समय मनमें संदेहका कीड़ा सलबला उठा। चित्त तर्क-वितर्कोंसे भर गया। पर मैं इस ओर ध्यान न देकर अपने पढ़ाईके काममें लग गया।

देखते-देखते चार दिन बीत गये; पर उस विद्यार्थीके तो फिर दर्शन ही नहीं हुए। मैं रोज उसकी राह देखता। मेरा संदेहका कीड़ा मजबूत हो गया। अन्तमें मैंने उस वर्गमें जाकर खोज की तो मालूम हुआ कि वह विद्यार्थी चार-पाँच दिनोंसे स्कूलमें ही नहीं आता। मेरी आँखोंके सामने पाँच रुपयेका नोट नाचने लगा।

मैं पता लगाने लगा। विद्यार्थियोंने मुझे अपनी-अपनी राय दी। मैंने सोचा ये ठीक कहते हैं, उस विद्यार्थीने मेरे सीधेपनका लाभ उठाया होगा। ये सब मेरी अपेक्षा उससे परिचित भी अधिक हैं। उनकी बात सच मानकर मैं निराश होकर चुपचाप अपने काममें लग गया।

इस घटनाको लगभग दस दिन बीत गये। मैं उकताये हुए चित्तसे स्कूलमें आकर आरामकुर्सीपर पड़ा समाचारपत्र पढ़ रहा था। इसी समय मेरे कानमें आवाज आयी—'मैं अंदर आ सकता हूँ, महाशयजी !'

मैंने कहा—'हाँ'।

मैंने समाचारपत्रकी आड़से देखा, वही लड़का है जो मुझसे पाँच रुपये उधार ले गया था। मैंने उसको बुलाया और वह धीरे-धीरे कमरेमें आ गया। काँपते हाथसे पाँच रुपयेका नोट देते हुए उसने कहा—

'सर ! देर हो गयी, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।'

मुझसे यन्त्रवत् बोला गया—'स्कूलमें क्यों नहीं आते ?'

'सर.......' कहते ही उसका कण्ठ गद्गद हो गया। 'घरमें माँ बीमार थी ! डाक्टरने कहा—रोग भयङ्कर है। इंजेक्शनोंकी जरूरत है। परंतु इंजेक्शनके पैसे मैं कहाँसे लाऊँ ? मैं गरीब हूँ, इसलिये मुझपर कोई विश्वास नहीं करता। किसीने एक पाई नहीं दी। ऐसी विषम परिस्थितिमें मैं क्या करता। मैं घबरा उठा। इधर माँकी स्थिति भयानक होती जा रही थी। अन्तमें मैं आपके पास आया। सच्ची बात कहते मुझे शर्म आ रही थी, इससे मैंने फीसका झूठा बहाना बनाकर आपसे रुपये माँगे और आपने विश्वास करके दे भी दिये। परंतु....'

'परंतु क्या ?'

'परंतु माँ.......गयी।' यों कहते-कहते बच्चा फफककर रो पड़ा। मैंने उसकी पीठ थपकाकर उसे शान्त किया। उसने आँसू पोंछते हुए कहा—

'फिर सर ! मैं स्कूलमें कैसे आ सकता था ? स्कूलकी दो महीनेकी फीस चढ़ गयी, मैं कहाँसे दूँ ? अन्तमें स्कूल छोड़कर मैंने रेलवे स्टेशनपर मजूरी शुरू की ! ये पाँच रुपये मेरे पसीनेके हैं·········'बोलते-बोलते उसका कण्ठ रुक गया।

इस बालककी ऐसी ईमानदारी देखकर मेरे हृदयमें हर्ष हुआ। सहानुभूतिके आवेशमें मैंने उससे कह दिया—'भाई ! तुम्हारी इस विषम परिस्थितिमें मुझे रुपये वापस लौटानेकी क्या जरूरत है ?'

'नहीं सर !' कहते हुए उसका स्वर दृढ़ हो गया। 'माँने अन्तकालमें कहा था—'बेटा, जिनसे लाया है, उनको जल्दी वापस दे आना। हरामका पैसा पचता नहीं।'

'नरेन्द्र ! ये रुपये ले जा, तेरे काम आयेंगे'—कहकर मैंने नोट उसके सामने रख दिया !

'नहीं सर ! हरामके पैसे लेनेके लिये माँने मुझको साफ मने कर दिया है। माँकी आज्ञाका मैं कभी उल्लङ्घन नहीं करूँगा।'

—मनहरलाल पोपटलाल सोनी

(९)

चौबीस घंटेमें पूर्ण स्वस्थ

आजसे बीस वर्ष पूर्वकी बात है। मेरे शरीरके एक भागमें रसौली (गिल्टीके आकारमें मेद-वृद्धि) होने लगी। डाक्टरसे इसकी जाँच करवायी तो उसने बताया कि इसकी वृद्धि स्पष्ट होने लगी है और यदि यह इसी प्रकार बढ़ती गयी तो शल्यचिकित्सा (ऑपरेशन) के द्वारा इसे निकलवाना होगा। कुछ मास पूर्व मुझे एक भीषण आकस्मिक शोकका धक्का लगा और तभीसे यह रोग बढ़ने लगा। थोड़े ही समयमें इसने दुगुना रूप धारण कर लिया और मुझे भय होने लगा कि शल्यचिकित्साकी शरण लेनी पड़ेगी। एक दिन मेरी एक सहेलीने मुझे चिन्तित देखकर कहा—'इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना क्यों नहीं करती हो ? ऑपरेशन करवानेकी क्या आवश्यकता है ?' उसकी ऐसी उत्साहपूर्ण सलाहसे कुछ धैर्य बँधा और मैं अपनी पूजनीया अध्यापिकाके पास पहुँची। जब मैंने अपनी दुःखकथा उन्हें सुनायी तो वे बोलीं—'हम दोनों परम पिता परमात्मासे इसके लिये प्रार्थना करेंगी; क्योंकि मुझे विश्वास है कि उनमें इसे ठीक करनेकी शक्ति है और वे तुम्हें अवश्य ठीक करेंगे। अब ठीक हुआ ही समझो।'

उस समय ईश्वरीय शक्तिमें मेरा विश्वास दृढ़ नहीं था। अतः मुझे यह विश्वास नहीं हो रहा था कि किस प्रकार बिना डाक्टरी सहायताके यह रोग ठीक हो सकता है; किंतु मेरी अध्यापिकाजीने मुझे बार-बार आश्वासन दिया और विश्वास दिलाया कि 'प्रार्थनासे यह निश्चितरूपसे ठीक हो सकता है और ईश्वर तुम्हारा सम्पूर्ण कष्ट शीघ्र एवं सुनिश्चितरूपसे दूर करेंगे।' उन्होंने, मुझे जो कुछ करना था, उसका आदेश दिया और यह भी बताया कि परम पिता परमात्माके प्रति की गयी प्रार्थनाको किस प्रकार प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। उन्होंने मुझे यह भी आश्वासन दिया कि ये मेरे लिये स्वयं भी प्रार्थना करेंगी।

अपनी अध्यापिकाजीके द्वारा बतायी पद्धतिसे मैंने प्रार्थना करना आरम्भ किया और उन्होंने भी स्वयं मेरे लिये प्रार्थना की। प्रार्थना करनेके पश्चात् उन्होंने मुझे बड़े विश्वासके साथ कहा कि 'तुम्हारी प्रार्थनाकी भगवान्‌के यहाँ सुनायी हो गयी है।' भगवान्‌की शक्ति अतर्क्य है। अध्यापिकाजीसे बात होनेके अगले २४ घंटोंमें वर्षोंसे वर्धमान वह रसौली (गिल्टीके आकारमें मेदवृद्धि) पूर्णरूपसे अदृश्य हो गयी। स्वयं मुझे विश्वास नहीं हो पाया कि क्या हुआ। अतएव अपने

संतोषके लिये मैं विश्व-विद्यालयके अस्पतालमें डाक्टरकी शरणमें पहुँची। उन्होंने ठीकसे देख-भाल करके बताया कि 'शरीरमें मेदवृद्धिका कोई भी चिह्न कहीं नहीं है। शरीरका प्रत्येक भाग वैसा ही स्वच्छ और स्वस्थ है, जैसा कि नवजात बालकका होता है।'

मैंने उन्हें समूची घटना कह सुनायी और बताया कि 'अन्तमें मैंने प्रार्थनाद्वारा उपकार करनेवाली अपनी अध्यापिकाकी शरण ली थी तथा उन्हींकी प्रार्थनाके उपरान्त यह चमत्कार हुआ है। मैं आपके पास इस भ्रमका निराकरण कराने आयी हूँ कि क्या सचमुच ही मेदवृद्धि अदृश्य हो गयी है?' डाक्टर महोदय बड़े ही दयालु और विवेकशील पुरुष थे। उन्होंने अपने कम्पाउण्डरोंके समक्ष मेरे कंधेपर अपना हाथ रक्खा और बोले—'बेटी! जब भगवान् किसी कार्यको करते हैं तो वह उत्तमोत्तम रूपमें सम्पन्न होता है और उसमें तनिक भी कोर-कसर नहीं रहती। डाक्टरके लिये उसमें कुछ भी सुधार करनेकी गुंजाइश नहीं रह जाती।' इतना कहकर वे हँस पड़े। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यह मेरी आन्तरिक प्रार्थनाका प्रभाव है। और जो कुछ भी थोड़ा-बहुत विश्वास मुझमें भगवान्‌के प्रति था, उसीने मुझे इस रोगसे मुक्ति दिलवायी है; इसे 'संयोग' नहीं कहा जा सकता।

इस घटनासे मेरा भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ हो आया है और मुझे यह निश्चय हो गया है कि भगवान् प्रार्थनाका उत्तर अवश्य देते हैं।

—श्रीमती एल० बी० (एक अमेरिकन महिला)

भगवान्‌के चरणोंके प्रतापसे मेरा मन प्रेम और आनन्दका दिव्य स्रोत बन गया है

कोई भी घटना, कोई भी परिस्थिति, कोई भी अभाव मुझे अब विचलित या भयभीत नहीं कर सकती; क्योंकि मैंने अपने मनको भगवान्‌के चरणोंपर केन्द्रित कर दिया है। भगवान्‌के चरणोंसे नित्य बहते हुए आनन्दमय प्रेम-पीयूषसे अभिषिक्त होकर मेरा मन पूर्ण पवित्र, पूर्ण स्थिर, पूर्ण शान्त, पूर्ण निश्चिन्त, पूर्ण निर्भय, पूर्ण विश्वस्त तथा पूर्ण आनन्दरूप हो गया है। अब मेरे हृदयसे प्रेम और आनन्दका नित्य स्रोत बहता रहता है। मेरी प्रत्येक चेष्टासे, मेरी प्रत्येक क्रियासे, मेरी प्रत्येक वाणीसे, मेरे प्रत्येक हाव-भावसे—देखने, चाहने, हँसने, बोलने, खाने, पीने, पढ़ने, लिखने आदिसे प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द झर रहा है और जो भी जान-अनजानमें मेरे सम्पर्कमें आ जाते हैं, वे प्रेम और आनन्दके सुधा-रस-स्रोतमें अवगाहन करके मत्त हो जाते हैं।

अब मैं अपने मनको भगवान्‌के चरणोंपर केन्द्रित कर प्रेम और आनन्दका दिव्य स्रोत बन गया हूँ।

तम्बाकू—मानव जातिकी शत्रु है या मित्र ?

तम्बाकू शब्दसे शायद ही कोई अपरिचित हो; क्योंकि यह घर-घरमें शहरसे लेकर गाँवके किसानोंतक व्यापक रूपसे फैला हुआ है। अब हम अधिक विवेचन न करके तम्बाकूके गुण-दोषोंके ऊपर दृष्टिपात करें।

तम्बाकूका जन्मस्थान भारत नहीं है। मुगलोंके शासन-कालमें पुर्तगीज लोग इसे भारतमें लाये थे। इसका प्रमाण यह है कि हिंदूजातिके पुराणादि धर्मग्रन्थोंमें, जो जगत्के साहित्यमें सबसे अधिक प्राचीन हैं, कहीं भी तम्बाकूका उल्लेख नहीं मिलता। इतिहासमें दृष्टिपात करनेपर ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम कोलम्बसने अमेरिकामें वहाँके निवासियोंको तम्बाकू पीते देखा था।

तम्बाकूका उपयोग

इसका उपयोग तीन प्रकारसे होता है—प्रथम, धूम्रपान करते हैं, बीड़ी-सिगरेट और चिलम-हुक्का—आदि अलग-अलग साधन हैं। द्वितीय, चूने या पानमें मिलाकर खाते हैं और तृतीय, नाकसे सूँघते हैं। बहुत-से लोग इसकी जर्दा बनाकर मुँहमें रखा करते हैं।

तम्बाकू भयङ्कर विष है

तम्बाकूकी खेतीकी रक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि संसारका कोई भी पशु-पक्षी इसके पत्ते नहीं खाता, मुँहतक नहीं लगाता। केवल एक प्रकारका कीड़ा है, जो तम्बाकूके पत्तेपर पैदा होता है और उसको खाता है। एक पुरानी ग्रामीण कहावत है—'तम्बाकूको गधा भी नहीं खाता।' उसको भी तम्बाकूके विषका ज्ञान होता है और सर्प तो भयके कारण तम्बाकूके खेतमें जातातक नहीं। यदि कोई साँपको पकड़कर उसके मुँहमें बलपूर्वक तम्बाकू डाल दे तो थोड़े ही समयमें वह मृत्युके मुँहमें चला जायगा। वर्तमान युगके वैज्ञानिकोंने तम्बाकूमें छः प्रकारके विषोंका पता लगाया है—(१) निकोटीन, (२) प्रूसिक एसिड, (३) पाइरीडीन, (४) कोलीडीन, (५) एमोनिया और (६) कार्बन मोनो ओक्साइड। इसके सिवा कई प्रकारके और भी बहुत-से विष इसमेंसे निकल सकते हैं। १९५७ ई० के अन्ततक शोधसे तम्बाकूमें विषोंकी संख्या १८ तक पहुँच गयी थी। आजके वैज्ञानिक एक रतल तम्बाकूमेंसे इतना विष निकालते हैं, जिससे ३०० मनुष्योंकी मृत्यु हो सकती है!

तम्बाकूका उपयोग करनेवालोंके मुँहका स्वाद बिगड़ जाता है, इतना ही नहीं, इससे आयु भी घट जाती है।

भूमिका नाश

जिस भूमिमें तम्बाकू बोयी जाती है, वह भूमि खराब हो जाती है। भारतमें ऐसी अधिकांश भूमिमें तम्बाकू बोयी जाती है, जिसमें अनाज नहीं बोया जाता। यदि बोया जाता है तो उपज जैसी चाहिये, वैसी नहीं उतरती। हमारे किसान अभागे हैं जो धनके लालचमें पड़कर अनाजकी अपेक्षा तम्बाकूकी खेती ही अधिक करते हैं। बहुत थोड़ी-सी भूमिमें अनाज उत्पन्न किया जाता है। अनाजकी कम खेती होनेके कारण ही अनाजका भाव आसमानपर चढ़ता जा रहा है। अनाजकी कमी पड़ती जा रही है और विदेशोंसे आयात करना पड़ रहा है। इससे हमारी धनलक्ष्मी परदेशमें खिंची जा रही है। घी और दूधका अभाव भी इसी कारण है तथा गोहत्याके पापका उत्तरदायित्व भी पूरा-पूरा इसीके सिर है। लाखों एकड़ जमीनमें तम्बाकूकी खेतीके कारण गायें भूखों मर रही हैं। इससे उनको कसाईखानेमें भेजते हैं। हमारी सरकार भी गोहत्याका कारण घास-चारेका अभाव बतलाती है।

धनका नाश

केवल बम्बई और इसके उपनगरोंमें एक दिनमें छः लाख रुपयेकी तम्बाकू काममें लायी जाती है। इस हिसाबसे सारे भारतवर्षमें एक दिनमें चार करोड़ रुपये और एक वर्षमें पंद्रह अरब रुपयेकी तम्बाकू उपयोगमें आती है।* सारी दुनियामें एक मिनटमें १२७० टन अर्थात् ३४६०० मन तम्बाकू उपयोगमें आती है। इतनी तम्बाकू कहाँ जाती है ?

---

* तम्बाकूपर आयात और आबकारी 'कर'से केन्द्रीय सरकार-को अक्टूबर सन् १९५८ तक ४.३२ करोड़ रुपयेकी प्राप्ति हुई है। पूर्व वर्षमें ३.५६ करोड़की हुई थी। ('सन्मार्ग' कलकत्ता २०। ६। ५९) इससे सिद्ध है कि तम्बाकूकी उपज बढ़ रही है और साथ ही प्रचार भी। पता नहीं, अन्नका इतना भीषण अभाव होनेपर भी व्यर्थकी वस्तु तम्बाकूकी खेतीपर सरकार प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाती और क्यों तम्बाकूके विरोधमें प्रचार नहीं करती। 'कर'के रुपयोंका लोभ ही इसका कारण है, या इस ओर ध्यान ही नहीं गया है।

जितनी पीयी जाती है, वह धुएँके रूपमें हवामें मिल जाती है और जितनी खायी और सूँघी जाती है, वह कफ या थूकके रूपमें जमीनपर फेंक दी जाती है। वह सब सूर्यकी गर्मीसे सूखकर, वायुके वेगसे उड़कर, वायुमें मिल जाती है। यह तम्बाकूका व्यसन चौबीस घंटेका होता है। इस प्रकार सारी दुनियामें प्रत्येक मिनटमें ३४६०० मन तम्बाकू वायुमें चौबीसों घंटे मिलती रहती है और इसी वायुमें सारे प्राणी श्वास लेते हैं।

तनका नाश

तम्बाकूकी आदत पड़नेके बाद मनुष्य उसे जल्दी छोड़ नहीं सकता और वह इस व्यसनका गुलाम बन जाता है। नियत समयपर आदतके अनुसार यदि उसे तम्बाकू न मिले तो वह टट्टी फिरने नहीं जा सकता, अन्न पचा नहीं सकता तथा किसी भी प्रकारकी मेहनत-मजदूरी या दूकानदारी आदि काम नहीं कर सकता। वह भाड़ेका टट्टू बन जाता है। बहुत-से लोगोंको सुँघनीकी आदत पड़ जाती है, यह सबसे अधिक हानिकारक है। क्योंकि नाकके द्वारा सीधे फेफड़ेमें घुस जानेके कारण यह कैंसरका रोग उत्पन्न करती है। इस व्यसनसे खाँसी आती है। खाँसीसे दूसरा रोग दमा हो जाता है और दमेसे तीसरा रोग क्षय हो जाता है। चौथा, बड़े भागमें कैंसर हो जाता है। जैसे तम्बाकू खानेवालोंके गले और जीभके पिछले भागमें, बीड़ी-सिगरेट पीनेवालोंके गलेमें और सूँघनेवालोंके फेफड़ेमें कैंसर हो जाता है और पाँचवाँ रोग हृदयकी गतिको बंद करनेवाला होता है। तम्बाकूसे आँख, दिमाग, पेट और शरीरकी एक-एक नाड़ी खराब हो जाती है। **बाजारमें कोई भी वस्तु शुद्ध नहीं मिलती, प्रत्येक वस्तुमें मिलावट होती है। संसारके दूसरे किसी देशमें भी खाने-पीनेकी वस्तुओंमें मिलावट नहीं की जाती; परंतु हम भारतवासी ऐसा करते हैं, यह अभागा देश पतनकी ओर जा रहा है। हमको तो अपने रोगी भाइयोंके ऊपर भी दया नहीं आती। हम दवाओंमें मिलावट करते हैं। बनावटी दवाएँ बनाकर बेचते हैं। कितने ही बच्चे, नौजवान इस कारणसे चोरी करके दुर्व्यसनमें फँस जाते हैं।** बीड़ी-सिगरेट न मिलनेपर भीख माँगते हैं। यदि भीख माँगनेपर भी नहीं मिलता तो घरमें या बाहर चोरी करते हैं। तम्बाकूसे भूमिका नाश, शरीरका नाश, धनका नाश, मानवताका ध्वंस—इस प्रकार सर्वनाश हो रहा है।

तम्बाकूसे मुक्त होनेके उपाय

कहावत है कि प्रकृति प्राणके साथ ही जाती है। यही बात आदतके विषयमें है। आज इस कलियुगमें अच्छी आदत जल्दी नहीं पड़ती। परंतु बुरी आदत जल्दी पड़ती है और उसको भूलनेके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। प्रत्येक क्रियामें मानसिक बलकी आवश्यकता होती है। पहले अन्तःसाक्षीके द्वारा मनोबल प्राप्त करके पक्का निश्चय कर लेना चाहिये कि मुझे तम्बाकू छोड़नी ही है। एक दिन घरमें भोजन न मिले या कच्चा अथवा ठंडा मिले तो हम उत्तेजित हो जाते हैं और लड़ने-झगड़ने लगते हैं, परंतु जब मनमें यह निश्चय कर लेते हैं कि हमको दो दिनका उपवास करना है तो वह आसानीसे सहन किया जा सकता है। इसी प्रकार तम्बाकूके छोड़नेका पक्का निश्चय करना चाहिये। बालकके समान हठ करना चाहिये। प्राण भले ही चले जायँ पर तम्बाकू नहीं छुऊँगा।* तीसरी बात यह है कि जो मनुष्य तम्बाकूके दास बन गये हैं, उसके बिना जो शौच नहीं जा सकते, भोजन नहीं पचा सकते, कोई भी काम मन लगाकर नहीं कर सकते, उसके बिना एक डग भी चला नहीं जाता, ऐसे लोगोंकी समस्याको सुलझानेके लिये बुद्धिपूर्वक विचार करना पड़ेगा। तम्बाकूको यदि त्याग देना है तो जिस कामकी पूर्तिके लिये तम्बाकूका उपयोग किया जाता है, उस कामकी पूर्तिके लिये किसी दूसरी वस्तुका उपयोग करना पड़ेगा। तम्बाकूका उपयोग पाँच कामोंकी पूर्तिके लिये किया जाता है—(१) टट्टी जानेके पहले तम्बाकू पीते या खाते हैं, उसके बिना टट्टी नहीं उतरती। (२) भोजन करनेके बाद उसको पचानेके लिये इसको खाते या पीते हैं। (३) किसीको रातको जागना होता है तो वह तम्बाकूका उपयोग करता है। (४) किसीका पेट फूल जाता है, पेटमें वायु हो जाती है

* कलकत्तेमें श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया नामक एक संत गृहस्थ थे। उन्हें वर्षोंसे तम्बाकूका बड़ा व्यसन था। उनकी चिलमकी आग कभी बुझती ही नहीं थी। वे विनोदमें कहा करते—'धूपियाकी आग कभी ठंढी नहीं होनी चाहिये।' एक दिन उनके एक श्रद्धेय महानुभावने उनसे कहा—'लक्ष्मीनारायण! चिलम छोड़ दो।' उन्होंने पूछा—'छोड़ दूँ ?' महानुभाव बोले—'हाँ-हाँ छोड़ दो।' एक क्षण मौन रहकर तुरंत श्रीलक्ष्मीनारायणजीने कहा—'छोड़ दी'। बस, उसी क्षणसे चिलमकी आग बुझ गयी। उन्होंने फिर, जीवनभर कभी तम्बाकू नहीं पी।

तो उसके शमनके लिये वह तम्बाकूका प्रयोग करता है।

(५) जब नाक बंद हो जाती है या सर्दी हो जाती है तो नाकको खोलनेके लिये सूँघनी लेते हैं।

उपाय—अब इन कार्योंके लिये हमें तम्बाकूके उपयोग-की जगह क्या करना चाहिये। इसका विचार करें।

(१) रातको काम करनेवाले वायुप्रकृतिवालोंके लिये सौंफ ५ तोले; अजवाइन १५ तोले, संचर नमक ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

(२) गरम प्रकृतिवालोंके लिये, जिनको गरम वस्तु, अनुकूल नहीं होती—सौंफ १५ तोले, अजवाइन ५ तोले, संचर ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

(३) सामान्य प्रकृतिवालोंके लिये, जिनको गरम और ठण्डी दोनों वस्तुएँ अनुकूल हों; सौंफ १० तोले, अजवाइन १० तोले, संचर ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

बनानेकी रीति—संचर नमकको बारीक पीसकर काँचके गिलासमें नीबूके रसमें मिला दे। फिर सौंफ और अजवाइन साफ करके कलईवाले बर्तनमें रखकर संचर मिलाये हुए रसको उसमें डाले और हाथोंसे मसलकर सबको एकमें मिला दे। फिर कोयलोंकी आगपर सेंककर डब्बेमें भर ले और सदा पास रक्खे।

खानेकी रीति—हर समय दो-चार दाने मुँहमें डाल-कर चबाता रहे; कभी मुँह खाली न रक्खे; क्योंकि मुँह खाली रखनेसे तम्बाकू याद आयेगी। यदि नींदमें याद आये तो उठकर इसीको मुँहमें डाल ले। दस-पंद्रह दिनोंमें व्यसन छूट जायगा।

इससे पहला लाभ होगा भोजन पचनेका, दूसरा लाभ पेटकी खराबी दूर हो जायगी और टट्टी जानेके पहले तम्बाकू-का उपयोग नहीं करना पड़ेगा। सौंफ भोजनको पचाती है और पेटको साफ रखती है तथा आँखोंको लाभ पहुँचाकर दृष्टिको तेज करती है।

अजवाइन और संचर भोजनको पचानेके साथ-साथ वायु (गैस) का नाश करते हैं। इस ओषधिके सेवनसे मुँहका स्वाद बदल जायगा; इससे जागरणमें भी सहायता मिल सकेगी। दिनभर खानेसे एक-डेढ़ आना खर्च होगा। परंतु यह याद रखना चाहिये कि ओषधिका उपयोग करते समय घी-दूधका सेवन आवश्यक है।

छींकके लिये नाकमें सूँघनेकी इच्छा हो तो सूर्यके सामने नाक ऊपर करके खड़े रहनेसे एक-दो मिनटमें छींक आ जाती है और नाक तथा दिमाग साफ हो जाते हैं। यदि छींक न भी आये तो नाक अवश्य खुल जायगी। सूर्यनारायणकी किरणोंमें इतनी अधिक दिव्य शक्ति है कि प्रातः सूर्य-किरणों-का शरीरमें स्पर्श होनेसे अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये सूर्य-स्नान और सूर्यनमस्कारको ऋषि-मुनियोंने प्रधानता प्रदान की है। (संध्या-वन्दनमें सूर्यार्घ्यका विधान है।) सारे दिन सूर्यसे मनुष्यको विटामिन 'डी' मिलता रहता है।

सुँघनीके बदलेमें कपड़ेसे छाना हुआ बारीक नमक अथवा नीलगिरी तेल ले सकते हैं। कपड़ेकी बत्ती बनाकर नाकमें डालनेसे यह काम पूर्ण हो सकता है।

भारतकी कायापलट

यदि हम भारतवासी तम्बाकू छोड़कर इसके ऊपर खर्च होनेवाले धनको इकट्ठा करें तो एक वर्षमें पंद्रह अरब रुपये हो जायँगे। अन्न-उत्पादनमें हम स्वावलम्बी बन जायँगे। लाखों गायोंको चारा दे सकेंगे और इससे लाखों डेरी तथा गायें हो जायँगी। शुद्ध दूध-घीकी नदियाँ बहने लगेंगी और भारतकी काया-पलट होकर नवनिर्माणका स्वप्न शीघ्र ही मूर्तिमन्त हो जायगा।

यूरोप और अमेरिका जाग उठे हैं। उन लोगोंकी शोधशालाएँ काम कर रही हैं। आज लंदनकी सरकार तम्बाकूके विरुद्ध पुस्तकें छपा रही है। स्वीडनकी सरकार तम्बाकूके प्रचारपर प्रतिबन्ध लगा रही है और भारत इतना अभागा है कि अन्नके उत्पादनको छोड़कर तम्बाकूकी उन्नतिमें प्रयास कर रहा है।

भारतीय कैंसर सोसायटीके एक डाक्टरने शोध किया है कि तम्बाकू पीनेसे कैंसरका रोग उत्पन्न होता है। उर्दूपत्र 'हिन्द समाचार' ता० ९। १२। ५७ के अङ्कमें प्रकाशित हुआ है कि जीभ और गलेके कैंसरका कारण बीड़ी और सिगरेटका पीना है। भारतमें कैंसरके ३६ प्रतिशत रोगी तम्बाकूके कारण होते हैं। न्यूयार्कमें ७ प्रतिशत, लंदनमें १६ प्रतिशत हैं। अभी हालमें यूरोप और अमेरिकाके वैज्ञानिकोंने अनुसंधानके द्वारा बतलाया है कि फेफड़ेके कैंसरका कारण तम्बाकू पीनेकी आदत है। आशा है कि इस विवेचनसे पाठकवर्ग स्वयं विचार करेगा और दूसरोंको विचारनेके लिये प्रेरणा प्रदान करेगा। —'अल्पज्ञ'

['तम्बाकूके ज्ञान और भारतके कल्याण'से संक्षेपमें—'श्रीजीवदया'से साभार]

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके सदस्योंसे निवेदन

इस संस्थाके द्वारा श्रीगीताके ५ प्रकारके और श्रीरामायणके ३ प्रकारके सदस्य बनाकर श्रीगीता और श्रीरामायणके अध्ययन एवं उपासना करनेके लिये प्रेरणा की जाती है। अपने सदस्योंको सालभरमें एक बार सूचना-कार्ड भेजकर यह पूछा जाता है कि आपका पाठ चालू है या नहीं। यदि किसी कारणवश पाठ बंद हो गया हो तो फिरसे चालू करनेकी प्रार्थना की जाती है। पिछले वर्षतक जवाबी (Business reply) कार्ड दिया जाया करता था, जिसपर सूचना भेजनेवाले सदस्योंको टिकट लगाना आवश्यक नहीं था; परंतु चालू वर्षमें जवाबी सूचना कार्ड नहीं देकर सिंगल कार्ड ही दिया जा रहा है और सदस्योंसे प्रार्थना की गयी है कि वे अपनी ओरसे उत्तर देनेकी कृपा करें। किंतु कई हजार सदस्योंने अभीतक उत्तर नहीं भेजा है। अतः पुनः प्रार्थना है कि जिन सदस्योंने अभीतक उत्तर नहीं दिया है, वे शीघ्र उत्तर देनेकी कृपा करें ताकि उनके नामके सामने 'पाठ चालू'का चिह्न लगाया जा सके। साथ ही वे अपनी सदस्य-संख्या भी पत्रमें अवश्य लिखनेकी कृपा करें।

प्रत्येक सदस्यसे यह भी प्रार्थना है कि वे कम-से-कम दो-दो नये सदस्य और बनानेकी कृपा करें। जिनके पास दूसरोंको सदस्य बनानेके लिये आवेदन-पत्र भेजे जाते हैं, उनमेंसे कई सदस्य दुबारा अपने ही नामसे कार्ड भरकर भेज देते हैं; किंतु इससे कोई लाभ नहीं। इसलिये जो सज्जन पहलेसे सदस्य बने हुए हैं, उनको दूसरे सज्जनसे ही आवेदन-पत्र भरवाकर भेजना चाहिये।

विभागोंके प्रकार यों हैं—

श्रीगीता-विभागके प्रकार

१—नित्य १८ अध्याय
२—नित्य ९ अध्याय
३—नित्य ६ अध्याय
४—महीनेमें दो पाठ अर्थसहित
५—नित्य १ घंटा या २ श्लोक गीतातत्त्व-विवेचनी-का मनन।

श्रीरामायण-विभागके प्रकार

१—नित्य नवाह्न-पारायणका एक विश्राम
२—नित्य मास-पारायणका एक विश्राम
३—नित्य ७ दोहे अर्थसहित (बीचकी चौपाई आदि भी)

उपासना-विभाग

नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी या मानसिक पूजा।

नये सदस्य बननेके लिये आवेदन-पत्र श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को लिखकर मँगवा सकते हैं।

निवेदक—

संयोजक, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

बहुत दिनोंसे अप्राप्य तीन पुस्तकोंके नये संस्करण

१—अध्यात्मरामायण—मूल और हिंदी-अनुवादसहित, संस्करण ग्यारहवाँ, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४००, चित्र बहुरंगे ८, सजिल्द, मूल्य ३)।

२—भागवत एकादश स्कन्ध—सटीक, संस्करण पाँचवाँ, पृष्ठ ४४८, मूल्य १), सजिल्द १।=)।

३—लघुसिद्धान्तकौमुदी—संस्करण दसवाँ, पृष्ठ ३६८, मू० ।।।)। इस संस्करणमें सन् १९५७, १९५८, तथा १९५९ के प्रश्नपत्र भी दे दिये गये हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

दो नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयी !!

पातञ्जलयोगप्रदीप

ग्रन्थकार—स्वामीजी श्रीओमानन्दजी तीर्थ

आकार बड़ा २२×२९ आठपेजी, ग्लेज मोटे कागज, पृष्ठ-संख्या ६२८, 'द्वा सुपर्णा सयुजा' मन्त्रके अर्थका द्योतक बहुरंगा चित्र, रूपकद्वारा योगका चित्रण, कोशसम्बन्धी चित्र, ॐकारका भावनामय चित्र, उड्डियान तथा नौली-सम्बन्धी चित्र, आसनोंके छोटे ४३ चित्र, षट्चक्रद्योतक चित्र तथा योगिराज सियारामजी और स्वामीजी सोमतीर्थजीके चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ६), डाकखर्च २)।

इस ग्रन्थके दो संस्करण अन्य स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके थे। हमारे सम्मान्य श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने जब योगदर्शनकी टीका लिखी, तब उनको इस ग्रन्थसे पर्याप्त सहायता मिली और उन्होंने अपनी टीकाकी भूमिकामें इसका उल्लेख भी किया। इससे योगदर्शनके बहुत-से पाठकोंने इस ग्रन्थकी माँग की। इसपर ग्रन्थकारने इसके प्रकाशनका सर्वाधिकार गीताप्रेसको दे दिया। मुद्रणकी अनेक कठिनाइयाँ तथा मँहगाईके होते हुए भी इस तीसरे संस्करणका मूल्य दूसरे संस्करणके मूल्यसे आधा रक्खा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्राग्वक्तव्य म० म० डा० गोपीनाथजी कविराज, डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री, स्वामीजी दिव्यानन्दजी महाराज आदि महानुभावोंने लिखा है। ग्रन्थकारने षड्दर्शन-समन्वय-प्रकरणमें वेद और दर्शन, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, न्याय और वैशेषिक एवं सांख्य और योगदर्शन आदिपर विद्वत्तापूर्ण विस्तृत विवेचन किया है। पातञ्जल-योग-दर्शनके सूत्रोंकी व्याख्यामें योगके कठिन विषयको अनेक प्रमाणोंद्वारा विस्तारपूर्वक सरलभाषामें समझानेका प्रयत्न किया गया है। धौति, बस्ति, नेति, नौली, त्राटक और कपालभाति—इन हठयोगकी क्रियाओंद्वारा तथा प्राकृतिक नियमोंद्वारा शरीर-शोधन करके बिना औषधके रोग दूर करनेके उपायोंका भी विस्तृत विवेचन किया गया है। बन्ध, मुद्रा एवं आसनोंकी तथा प्राणायामकी विधियाँ बतलायी गयी हैं। अनेक रोगोंपर औषध-प्रयोगके द्वारा भी शरीर-शोधनका वर्णन किया गया है।

आशा है कि योग-तत्त्व-जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थसे लाभ उठा सकेंगे।

परम शान्तिका मार्ग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ४१६, चार बहुरंगे और दो सादे कुल छः चित्र, मू० १), सजिल्द १।=), डाकखर्च १)।

इस ग्रन्थमें समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित श्रीगोयन्दकाजीके लेखोंका लेखकद्वारा संशोधित संग्रह है। इन लेखोंमें आस्तिकता, भगवत्प्रेम, मनोनिरोध, श्रद्धा-भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, सद्गुण-सदाचार, धर्म, पुरुषार्थ, उत्तम भाव, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि साधनोंका, महापुरुषोंके प्रभावका एवं भगवान्‌के स्वरूपका बहुत सरलतापूर्वक विवेचन किया गया है। सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी सब प्रकारकी उन्नति, व्यावहारिक और सामाजिक सुधार, शिष्टाचार, बालकोंके कर्तव्य आदिका भी निरूपण किया गया है।

परम शान्ति-मार्गके पथिकोंके लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपादेय होगा, ऐसी आशा है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)